फणीश्वरनाथ रेणु (1921-1977) का जन्म बिहार के पूर्णिया ज़िले के एक पिछड़े गाँव औराही हिंगना में एक किसान परिवार में हुआ। स्कूली पढ़ाई फारबिसगंज और विराट नगर (नेपाल) में पूरी हुई और कॉलेज की पढ़ाई वाराणसी में। तभी 1942 के आंदोलन में वे सक्रिय रूप से सम्मिलित हो गए। 1945-46 से उनका लेखन-कार्य आरंभ हुआ और दस ही वर्षों में हिंदी साहित्य-जगत् में उनकी रचनाएँ पर्याप्त रूप से प्रतिष्ठित हो गईं। अपने पहले महत्त्वपूर्ण उपन्यास *मैला आँचल* में उन्होंने धरती-पुत्रों की गाथा का मार्मिक अंकन किया। आंचलिक उपन्यास लेखन का भी इससे सूत्रपात हुआ। अपने दूसरे उपन्यास *परती : परिकथा* में उन्होंने जनाकांक्षा और भूमि समस्या की नई व्याख्या प्रस्तुत की। उनकी कहानियाँ भी आंतरिक लयात्मकता के नाते ख़ूब चर्चित हुईं।

रेणु की रचनाओं में केंद्र स्थान से कथाओं की अनेक धाराएँ, एक दूसरे को काटती हुई, एक समुच्चय उपस्थित करती हैं। आम कथा-चक्रों की तरह ये पूरी नहीं होतीं और शिल्प के स्तर पर इनमें सटीक रैखिक प्रवाह होता है जो भारतीय कथा-साहित्य में विरल है। अपनी विशिष्ट और मोहक शैली के लिए भी रेणु बहुत पढ़े और सराहे गए। लेखकों की युवा पीढ़ी आज भी उनका अनुकरण कर रही है। उनकी संपूर्ण रचनाएँ *रेणु रचनावली* के पाँच खंडों में उपलब्ध हैं। साहित्य अकादेमी ने भी उनकी चुनिंदा रचनाएँ *रेणु रचना-संचयन* के रूप में प्रकाशित की हैं।

सुरेंद्र चौधरी (1933 - 2001) ने प्रस्तुत विनिबंध में रेणु की रचना-धर्मिता का सम्यक् विवरण और मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। हिंदी कथा-साहित्यालोचन के क्षेत्र में उन्होंने अपनी विशिष्ट पहचान बनाई थी। हिंदी कहानी-समीक्षा को वास्तविक अर्थों में संतुलित आलोचना का स्वरूप प्रदान करने में सुरेंद्र चौधरी का ऐतिहासिक योगदान है। *हिंदी कहानी : प्रक्रिया और पाठ* को हिंदी कहानी-आलोचना की पहली पुस्तक होने का श्रेय प्राप्त है। प्रमुख प्रकाशित कृतियाँ हैं—*हिंदी कहानी : प्रक्रिया और पाठ, इतिहास : संयोग और सार्थकता, हिंदी कहानी : रचना और परिस्थिति, साधारण की प्रतिज्ञा : अँधेरे से साक्षात्कार*।

साहित्य अकादेमी

ISBN 978-81-260-2632-6

9 788126 026326

www.sahitya-akademi.gov.in

₹ 50

फणीश्वरनाथ रेणु

सुरेंद्र चौधरी

भारतीय साहित्य के निर्माता

फणीश्वरनाथ रेणु

सुरेंद्र चौधरी

भारतीय साहित्य के निर्माता

फणीश्वरनाथ रेणु

सुरेंद्र चौधरी

साहित्य अकादेमी

Phanishwar Nath Renu: Monograph in Hindi by Surendra Choudhary on Modern Hindi Writer, Sahitya Akademi, New Delhi (2023) ₹50/-

कॉपीराइट © साहित्य अकादेमी | Copyright © Sahitya Akademi

सुरेंद्र चौधरी (1933-2001) : लेखक | Surendra Choudhary (1933-2001): Author

विधा : विनिबंध | Genre: Monograph

साहित्य अकादेमी द्वारा प्रकाशित | Published by Sahitya Akademi

प्रथम संस्करण : 1987 | First Published: 1987

पुनर्मुद्रण : 1991, 1999, 2008, 2010, 2011, 2012, 2017 एवं 2023 | Reprinted: 1991, 1999, 2008, 2010, 2011, 2012, 2017 & 2023

मूल्य : पचास रुपये | Price: Rs.50/-

ISBN 978-81-260-2632-6

सर्वाधिकार सुरक्षित। साहित्य अकादेमी की अनुमति के बिना फोटोकॉपी, रिकॉर्डिंग या किसी अन्य सूचना-भंडारण एवं पुनःप्राप्ति प्रणाली सहित किसी भी इलेक्ट्रॉनिक या मेकेनिकल माध्यम से इस पुस्तक के किसी भी अंश का पुनरुत्पादन अथवा उपयोग नहीं किया जा सकता।

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय : रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोज़शाह मार्ग, नई दिल्ली 110 001
secretary@sahitya-akademi.gov.in | 011-23386626/27/28
विक्रय अनुभाग : 'स्वाति', मंदिर मार्ग, नई दिल्ली 110 001
sales@sahitya-akademi.gov.in | 011-23745297, 23364204
कोलकाता : 4, देवेंद्रलाल ख़ान रोड, कोलकाता 700 025
rs.rok@sahitya-akademi.gov.in | 033-24191683/24191706
चेन्नई : मेन बिल्डिंग, गुना बिल्डिंग्स (द्वितीय तल), 443(304), अन्नासालइ, तेनामपेट, चेन्नई 600 018
chennaioffice@sahitya-akademi.gov.in | 044-24311741
मुंबई : 172, मुंबई मराठी ग्रंथ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुंबई 400 014
rs.rom@sahitya-akademi.gov.in | 022-24135744/24131948
बेंगलूरु : सेंट्रल कॉलेज परिसर, डॉ. बी. आर. आंबेडकर वीथी, बेंगलूरु 560 001
rs.rob@sahitya-akademi.gov.in | 080-22245152, 22130870

मुद्रक : विकास कंप्यूटर एंड प्रिंटर्स, ट्रोनिका सिटी, लोनी, ग़ाज़ियाबाद-201102

वेबसाइट : https://www.sahitya-akademi.gov.in

अनुक्रमणिका

1. संक्षिप्त जीवनी 7
2. एक अंतर्कथा 10
3. धरती-पुत्रों की रपट 18
4. कहानियों का गंध-परिवेश 27
5. कहानियों का रचना-संसार 38
6. नाटकीयता और प्रगीत का योगपद 46
7. समकालीन यथार्थवाद और रेणु का कथा-साहित्य 63
8. समस्याओं की दुनिया में 94

परिशिष्ट 105

संक्षिप्त जीवनी

औराही हिंगना पूर्णिया ज़िले का एक अत्यंत दूरस्थ और पिछड़ा हुआ गाँव है। उसी गाँव में 4 मार्च 1921 ई. को फणीश्वरनाथ रेणु का जन्म एक मध्यवित्त किसान परिवार में हुआ। मंडल परिवार के गृहस्वामी, रेणु के पिताजी, आर्यसमाजी थे। इस कारण सामान्य किसान परिवार रेणु की पारिवारिक पृष्ठभूमि अलग थी। पिताजी का संपर्क बंगाल से भी था; ऐसी स्थिति में उनकी मानसिकता में अनेक ऐसे तत्त्व थे, जो उन्हें अपने परिवेश की जड़ता से अलग करते थे। वैसे भी 1921 ई. के अंत तक देश का मानसिक और राजनीतिक वातावरण उग्र हो रहा था। उसकी गूँज देश के कोने-कोने में सुनाई पड़ रही थी।

गाँधीजी के असहयोग आंदोलन और चंपारण में उनके किसान आंदोलन का प्रभाव बिहार की मानसिकता को बदलने में काफ़ी उत्तेजक भूमिका संपन्न करता है। इन्हीं परिस्थितियों में जन्मे और पले रेणु पर सामान्य किसान-बालक से भिन्न प्रभाव का होना भी अनुमेय है। वैसे पिताजी के कठोर आर्यसमाजी व्यक्तित्व के प्रति रेणु का दबा-दबा विद्रोह भी यहाँ-वहाँ व्यक्त होता है। प्रारंभिक शिक्षा के लिए रेणु को फ़ारबिसगंज भेजा गया, जो उस समय अंग्रेज़ निलहे ज़मींदारों के कारण काफ़ी उन्नत क़स्बा था। वहाँ रेणु जिस स्कूल में भर्ती हुए, उसका नाम था—'ली अकादमी'। वहाँ नवीं कक्षा तक ही वे पढ़ सके। बाद में कोइराला परिवार के संपर्क में आए और विराटनगर के आदर्श विद्यालय में उनका दाख़िला हुआ। इस विद्यालय की स्थापना बी.पी. कोइराला के पिता कृष्णप्रसाद कोइराला ने की थी; जिन्हें नेपाल का गाँधी कहा जाता था। इसी आदर्श उच्च विद्यालय से रेणु ने मैट्रिक की परीक्षा पास की।

कॉलेज की शिक्षा के लिए उन्हें बनारस भेजा गया। यहाँ रेणु ने इंटर तक की पढ़ाई पूरी की। उस समय बनारस समाजवादी और वामपंथी आंदोलन का केन्द्र था। वहीं रेणु पर समाजवादी विचारधारा का गहरा असर हुआ। तब तक सन् 42 का उग्र आंदोलन प्रारंभ हो चुका था।

अपने बचपन में उन्होंने बंगाल से आनेवाले जात्रा-दल, कानपुर से आनेवाली नौटंकियों और विद्यापति गानेवालों को एक साथ, सहवर्त्ती कार्य-कलापों के रूप में

देखा था। उनकी समानता-असमानता के प्रति संवेदनशील और कलाकार मन वाले रेणु का रुझान तब से था। उन्होंने आगे चलकर अपनी कहानियों, रिपोर्ताज़ों और उपन्यासों में इनका उपयोग भी किया। पारिवारिक वातावरण उनके शायद बहुत अनुकूल न था। सन् '42 के आंदोलन से उनका युवा मन पूरी तरह प्रभावित था। शायद इस आंदोलन में उन्होंने अधिकांश युवकों की ही तरह हिस्सा लिया। इसी क्रम में उनका संबंध नेपाल के कोइराला परिवार से भी ज़्यादा घनिष्ठ हुआ। यों, स्वयं उनकी सूचना के अनुसार, इस परिवार के साथ उनका संबंध पहले ही स्थापित हो चुका था। नेपाल के मुक्ति आंदोलन में उनकी भूमिका को लेकर संदेह नहीं किया जा सकता। तराई क्षेत्र में निरंतर कार्यरत रहने के कारण '46 के बाद उनका स्वास्थ्य भी थोड़ा बिगड़ गया था, मगर इसकी ओर उनका ध्यान अधिक न था। निरंतर एक स्थान से दूसरे स्थान पर शरणागत होते हुए उनका स्वास्थ्य और बिगड़ गया। उन्होंने इसी दरम्यान कुछ कहानियाँ भी कलकत्ते की *विश्वमित्र* पत्रिका में लिखीं। इनमें 'बटबाबा' और उसके पहले की एक और कहानी की सूचना मिली है।[1]

सन् '50 में रेणु यक्ष्मा से पीड़ित होकर पटना टी. बी. सेण्टर में भर्त्ती हुए और श्रीमती लतिका रेणु की अथक सेवा के परिणामस्वरूप अच्छे हुए। फिर वे वैवाहिक संबंध सूत्र में बँध गए। इन्हीं दिनों वे *मैला आँचल* लिख रहे थे। रेणु लतिका जी से विवाहोपरांत पटना में ही रहने लगे थे। गाँव में अच्छी ज़मीन-जायदाद थी। रेणु की दूसरी पत्नी पद्माजी बच्चों और परिवार के साथ गाँव में रहती थीं। बड़े लड़के पद्मपराग के साथ उन्होंने खेती-बाड़ी का काम सँभाल रखा था। खेती के समय स्वयं रेणु भी गाँव जाया करते थे।

मैला आँचल के प्रकाशन के बाद से रेणु के जीवन का घटनाक्रम तेजी से बदलता है। वे साहित्य में अप्रत्याशित उछाल लेकर प्रतिष्ठित होते हैं। लेखन के क्षेत्र में यह प्रतिष्ठा किसी दूसरे लेखक को शायद ही कभी मिली हो। इन्हीं दस वर्षों में उन्होंने अपना अन्यतम लेखन संपन्न किया। यही नहीं, साहित्य और साहित्यिक संपर्क की दृष्टि से भी ये ही वर्ष उनके जीवन में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माने जाएँगे। उपन्यास और कहानियों के क्षेत्र में ऐसी प्रतिष्ठा पाकर भी रेणु के व्यवहार में कोई अंतर न आया था। वे जब भी पटना में होते तो वहाँ के साहित्यिक वातावरण के अंग बनकर रहते। अत्यंत महत्त्वपूर्णता का उनके ऊपर उन्मादक असर तो शायद कभी न पड़ा, पर वस्तुतः इन महत्त्वपूर्ण वर्षों में भी उन्होंने कहीं से यह आभास न होने दिया कि प्रतिष्ठा ने उन्हें विचलित किया था। अक्सर ऐसा नहीं होता। रेणु के व्यक्तित्व की इस शालीनता में आभिजात्य ढूँढ़ना भी बहुत उचित नहीं मालूम पड़ता। शालीनता जब कृत्रिम होती है तो उसमें से एक निष्करुण अनम्यता झाँकने लगती है।

---

1. टिप्पणी : *सारिका* में रपट, मई, 1984

सातवें दशक की समाप्ति का समय देश और स्वयं रेणु के जीवन में अत्यंत उथल-पुथल का समय रहा है। प्रायः एक दशक के कठिन संघर्षों ने रेणु को भीतर-बाहर से घेरा था। यही कारण है कि वे बीमार चलने लगे थे। अच्छे होते और बीमार पड़ते। यह क्रम चलता रहा। आपातकाल से पूर्व बिहार आंदोलन के दौरान अपने इलाक़े के किसानों की समस्या को लेकर रेणु ने प्रखंड कार्यालय पर ग्रामीणों के साथ प्रदर्शन किया और गिरफ्तार हुए। उन्हें पूर्णिया जेल में रखा गया। कई महीनों के बाद जब रिहा हुए उसके थोड़े ही दिन बाद आपातकाल की घोषणा हो गई और फिर भूमिगत जीवन बिताने का सिलसिला शुरू हो गया। इसी बीच वे पुनः गंभीर रूप से बीमार हुए और नवंबर '76 में पटना मेडिकल कॉलेज अस्पताल में भर्त्ती होना पड़ा। लोकसभा का चुनाव हुआ और कांग्रेस सत्ता से बेदख़ल हुई। केन्द्र में जिस दिन जनता पार्टी की सरकार बनी, उसी दिन रेणु का पेप्टिक अल्सर का ऑपरेशन हुआ। ऑपरेशन के समय उन्हें जो एनेस्थिसिया दिया गया, उसके बाद कभी होश नहीं आया। अट्ठारह दिनों की बेहोशी के बाद 11 अप्रैल '77 को रात्रि नौ बजकर दस मिनट पर अस्पताल में ही उनका निधन हो गया। *मैला आँचल* का प्रशांत जिस मेडिकल कॉलेज का छात्र था, उसी मेडिकल कॉलेज अस्पताल में उपन्यासकार रेणु ने अंतिम साँस ली।

एक अंतर्कथा

रेणुजी के सम्मुख होने पर मुझे उनकी मुस्कराहटों का हमेशा ख़याल रहता था। मैं अपने को एक व्यंग्यचित्रकार के सम्मुख पाता था, जो मेरी मांस-मज्जा-स्नायु-त्वचा को अपनी मुस्कराहटों से बेध सकता था, उसकी हर सिकुड़न को लक्षित कर सकता था और मेरी हर ध्वनि से प्रतिकृत होता हुआ उसे कहीं से भी पकड़कर मरोड़ सकता था। शायद *परती : परिकथा* के कतिपय पात्र मेरे ध्यान में रहे हों। बहरहाल, मेरी इस असहजता का अंत हुआ; मगर काफ़ी देर से। वैसे रेणुजी को मैंने अपने प्रति कभी प्रतिमुख नहीं पाया, राजनीतिक बहसों के दरम्यान भी नहीं। रेणुजी 'मूड' में होते तब भी कुछ बदला हुआ सहसा दिखाई नहीं पड़ता था। विचारधारा के मामले में हमारी निकटता दूरियों की अपेक्षा ज़्यादा ही थी, यह मैंने महसूस किया था। वैसे, मैं उनकी आलोचनाओं से हतप्रभ कभी नहीं हुआ। वे एकदम निर्वैयक्तिक होने का आभास नहीं देते थे। शायद इसका कारण कुछ दूसरा भी रहा हो।

रेणुजी से मेरी पहली भेंट राजकमल के साथ हुई और दूसरी प्रेमेन्द्र के साथ। दोनों ही मुलाक़ातों में हमारी बातें असाहित्यिक क़िस्म की रहीं। फिर भेंट होती रही, मगर बहुत ज़्यादा नहीं। एक दो बार लंबी भेंट का भी अवसर आया, जब हमारी बैठक कुछ ज़्यादा ही खिंची। इन मुलाकातों में मैंने पाया कि रेणु का व्यक्तित्व भीतर-बाहर से प्रायः एक है।

उनकी व्यक्तिगत ज़िन्दगी के बारे में मेरी जानकारी प्रायः सीमित है। इसका एक कारण तो शायद मेरा अपना रुझान भी है। मैंने कभी रेणुजी के व्यक्तिगत जीवन में दिलचस्पी नहीं दिखाई। याद नहीं आता कि मैंने उनसे या अन्य मित्रों से व्यक्तिगत जानकारी हासिल करने का कभी प्रयास किया हो। अभी रेणु पर लिखते हुए यह महसूस करता हूँ कि उनके बारे में मुझे कुछ और जानना चाहिए था। जो भी हो, रेणु का साहित्यकार मेरे लिए पर्याप्त जिज्ञासा का विषय है। यह भी कि रेणु औराही हिंगना के थे और एक व्यवस्थित किसान परिवार में जन्मे थे। कभी-कभी ऐसा भी सुनाई पड़ा कि मालदह (प. बंगाल) के हरिश्चंद्रपुर से भी उनका कोई संबंध था। इस मामले में मैंने ज़्यादा दिलचस्पी नहीं ली। रेणु का प्रारंभिक जीवन पूर्णिया-वीरपुर के बीच बीता था और ऊँची शिक्षा के लिए उन्हें बनारस भेजा गया था। नेपाल के कोइराला परिवार से उनका बड़ा ही आत्मीय संबंध था। बाद में वे नेपाल की क्रांति से भी जुड़े और समाजवादी आंदोलन से भी।

रेणुजी ने अपने बारे में कुछ कहानियाँ प्रचारित की थीं। सब करते हैं। निश्चय ही, इनके पीछे कोई मानसिक कारण होता है, मन की कोई माँग होती है, कभी कोई सामाजिक अपेक्षा होती है। इन कहानियों से कोई फ़र्क नहीं पड़ता। दोस्तों से इन कहानियों की जानकारी हुई। पर ये कहानियाँ अत्यंत सादी कहानियाँ थीं, भावना में निर्दोष। रेणु के बंगाली होने की बात भी उन्हीं निर्दोष अंतर्कथाओं में से एक है। ये अंतर्कथाएँ केवल एक ही निर्देश करती हैं—रेणु के व्यक्तित्व का निर्माण गहरे भावनात्मक और सामाजिक अंतर्विरोधों के भीतर से हुआ था। शायद इन्हीं तीखे विरोधों ने रेणु को लेखक, कार्यकर्त्ता और किसी हद तक क्रांतिकारी बनाया। पढ़ाई छोड़कर रेणु एक सक्रिय क्रांतिकारी बने और फिर लंबी भटकनों के बाद बीमार होकर पटना आए। तब शायद रेणु के संबंध में पटना के साहित्यिक माहौल को कोई जानकारी न थी। इस पूरी कथा की पृष्ठभूमि में लतिका जी का व्यक्तित्व कार्यरत रहा। इस पर अपनी ओर से कुछ कहना व्यर्थ है।

सन् 1954 में प्रकाशित *मैला आँचल* ने सबकुछ बदल दिया। रेणु का नाम अफ़वाह की तेज़ी से फैला। स्व. नलिनविलोचन शर्मा ने घोषणा की, "मैं अपने श्रेष्ठ उपन्यासों की सूची से *गोदान* को छोड़कर किसी रचना को *मैला आँचल* के लिए अपदस्थ कर सकता हूँ।" *मैला आँचल*[1] एक धमाके की तरह हिन्दी में प्रकट हुआ। रेणु कहानियाँ लिख रहे थे—*ठुमरी* की कहानियाँ। *अपरंपरा* के लिए उन्होंने 'तीसरी क़सम' कहानी लिखी थी। पटना का साहित्यिक माहौल रेणु से भर रहा था। उनके आसपास एक लेखक समुदाय उभर चुका था। वे बिहार के कथा-लेखकों के लिए प्रेरणा-स्रोत साबित हो रहे थे। हमारे लेखन क्षेत्र में रेणु का योगदान भुलाया नहीं जा सकता। उनसे प्रेरणा लेकर कई अच्छी कहानियाँ हमारे युवा लेखकों ने लिखीं—ख़ासकर उन लोगों ने, जो गाँवों से आए थे और जिनके अनुभवों में ग्रामीण जीवन ताज़ातर था। आंचलिक कथाओं का एक फ़ैशन भी चला। पर उसमें अंचलों की जीवित धड़कन न थी, महज़ अतीत था और उस पर आरोपित एक रोमांटिक व्यर्थता थी।

रेणु इन स्थितियों से एकदम अपरिचित भी न थे। पर इस संबंध में उन्होंने कुछ खुलासा करना आवश्यक न समझा था। यह उनकी आदत का एक हिस्सा था।

---

1. *मैला आँचल* का एक प्रसंग याद आता है, प्रशांत के संदर्भ में—"बचपन से वह अपने जन्म की कहानी को कभी भूल नहीं सका। प्रत्येक इतिहास पर गौरव करनेवाले युग में पले हुए हर व्यक्ति को अपने ख़ानदान की ऐसी कहानी चाहिए, जिसके उजाले में वह दुनिया में चकाचौंध पैदा कर दे। लेकिन डॉक्टर के वंश-इतिहास पर काली रोशनाई पुती हुई है।"

सन् '51 के जीवन में अनुभव चक्रों का एक आवर्तन रेणु पूरा करते हैं। '50 की नेपाली क्रांति और उसके बाद के घटनाक्रम का स्मरण रेणु ने आवेश के साथ किया है—'नो पासारॉं, नो बागारॉं'। यह दौर रेणु के जीवन की सक्रियता का दौर है। निरंतर संघर्ष करते हुए रेणु का विकास एक ऊँचाई तक पहुँच जाता है। मगर यह रेखाक्रम भी एकदम सपाट-सीधा ऊपर चढ़ता हुआ नहीं है। कई पेंचोखम हैं। मुक्ति-संग्राम, क़ौमी एकता, समाजवाद का भविष्य, भारतीय परिस्थितियाँ और स्वयं अपने भीतर सिमट आए देश को लेकर एक लेखक का आत्मसंघर्ष एक मायने रखता है।

देश की आज़ादी ने समूचे भारत को आंदोलित किया था। आज़ादी के झूठ-सच की पड़ताल करनेवाले लोगों से अलग भी आज़ाद भारत की धड़कनें सुनाई पड़ रही थीं। शहर और गाँव की दूरियाँ लाँघकर जन-जीवन में उत्साह आ गया था। अपने देश के लोग कुछ सोचने लगे थे, कुछ चाहने लगे थे। पहली बार शायद उन्हें अपने चाहने की सार्थकता का एहसास हो रहा था। वे स्वतंत्र थे, वे कुछ सोच सकते थे, वे कुछ चाहने के लिए भी स्वतंत्र थे। यह साधारण घटना न थी। रेणु ने इस धड़कते हुए देश और जन को क़लमबंद किया अपने उपन्यासों में। अपनी कहानियों में अब भी एकदम कुछ नया वे न लिख पा रहे थे। *तुमरी* की कहानियों में आज़ाद भारत की धड़कनें वैसी नहीं हैं। ये कहानियाँ फिर भी पिछले समय और पिछले लोगों से ही जुड़ी हैं। 'ठेस', 'लालपान की बेगम' या 'पंचलैट' में थोड़ा-सा अंतर तो देखा जा सकता है, मगर वह उतना स्पष्ट और रेखांकित नहीं है।

नेपाली क्रांति के दमन के बाद से रेणु में एक अप्रत्याशित उबाल आया था। ऐसा लगता था कि क्रांतियाँ असफल होकर भी मरती नहीं हैं। वे दूब की तरह दब-दबकर उगना जानती हैं। यही तो काल-कथा का जीवन-स्रोत है। ऐसी सूचनाएँ हमें मिलती रही हैं कि रेणु *मैला आँचल* के पात्रों को लेकर फिर कुछ लिख रहे हैं, पर यह अधूरा रह गया। रेणु की कल्पना में सिमटकर रह जानेवाली काल-कथा अवश्य ही महत्त्वपूर्ण घटनाक्रमों के संदर्भ में एक बार फिर चमकती। चमककर हमें आश्वस्त करती। बहरहाल, इन्हीं संदर्भों में रेणु की विचारधारा में एक बार फिर उबाल आता है। यह काल-खंड कुछ विचित्र घटनाक्रमों और गतिविधियों का है। पूरे देश के स्तर पर कुछ घटित होता रहता है, इसी क्रम में कुछ वामपंथी शक्तियाँ एक-दूसरे के पास आती हैं। 1967 में पहली बार भारत के लगभग आठ राज्यों में कांग्रेसी शासन का एकाधिकार समाप्त होता है। बुर्जुवा नेतृत्व के विभाजन का संकट उभरकर सामने आता दिखाई पड़ता है। दूसरी बार कांग्रेस का राजनीतिक एकाधिकार पूरे राष्ट्र के तंत्र पर से उठ जाता है। इन घटनाओं के प्रवाह से रेणु जुड़े हुए हैं। 1975 में आपात्काल की उनकी भूमिका पर हमें विशेष ध्यान रखना चाहिए। रेणु की विचारधारा उनकी भावधारा से बनी थी। उन्हें विचारों से अपने

भावजगत् की संरचना करने की विवशता न थी। यही कारण था कि वे अमूर्त्त से सैद्धांतिक सवालों पर बहस नहीं करते थे। उनके विचारों का स्रोत कहीं बाहर—पुस्तकीय ज्ञान में न था।

लिखने में यद्यपि पहले जैसी गति न रह गई थी, पर एक अदम्य साहस उनमें अवश्य उभर आया था। वे देश में होनेवाली घटनाओं से उत्प्रेरित थे। उन्हें आशा हो चली थी कि भारतीय जनता के हस्तक्षेप से ही परिवर्तन संभव है। कम्युनिस्ट पार्टी के प्रति उनका तनाव जैसे बढ़ गया था। वे जयप्रकाशजी की ओर आशा और विश्वासभरी नज़रों से देख रहे थे कि जनता की भावना को रणनीति में बदलनेवाला नेतृत्व जयप्रकाश ही दे सकते हैं।

राजनीतिक हस्तक्षेप में उनका विश्वास बढ़ रहा था। उनके मन में एक आशा पनप रही थी। और जब ऐसा कुछ हुआ, तो रेणु अचानक सक्रिय हो गए। अपनी परवाह न करके उन्होंने संगठन, प्रदर्शन, जुलूस के कार्यक्रमों में हिस्सा लिया। फिर बीमार पड़े। बीमार पहले भी चल रहे थे, मगर इस बार कुछ अधिक ही गंभीर हालत हो गई। बातों के सिलसिले में पुरानी यादें दुहराते। सन् 1942 के घटनाक्रमों की चर्चा वे कई प्रसंगों में करते। स्पष्ट है कि इस काल की घटनाओं से उनका भावनात्मक संबंध था। हज़ारीबाग़ जेल से श्री जयप्रकाश नारायण के फ़रार होने की कहानी उन्हें याद आती। अवश्य ही इन घटनाओं से उनका मानसिक प्रशिक्षण भी हुआ था। मानसिक क्षमताओं के प्रशिक्षण की बात पर वे मुस्कराते। वे विश्वास करते थे कि इस प्रशिक्षण के लिए ज़िन्दगी स्वयं एक पाठशाला है। उनका विश्वास था कि राजनीतिक पृष्ठभूमि के कलात्मक उपयोग के लिए केवल कार्यकर्त्ता की दृष्टि का विसर्जन करना ज़रूरी है। इससे राजनीतिक पृष्ठभूमि स्वयं अपनी गतियों को अधिक क्षमता से और अधिक स्पष्टता से धारण करती है। लेखकीय प्रतिबद्धता इससे आहत नहीं होती।

रेणुजी प्रतिबद्धता को इतनी नाज़ुक चीज़ न समझते थे कि उसके लिए गुहार की ज़रूरत पड़ती रहे। वे उसे लेखक और आदमी की अविभाज्य नैतिकता मानते थे, पर साथ ही मैंने यह भी पाया था कि कतिपय राजनीतिक गतिविधियों से वे बेहद निराशा का अनुभव करते थे। स्वयं भारत के समाजवादी आंदोलन की गतिविधियों और उसके राजनीतिक विभाजन से वे चिन्तित थे। कम्युनिस्ट पार्टी की टूटन पर *माया* में उन्होंने एक मार्मिक कहानी[1] लिखी थी, जो उनके भावनात्मक ओज का प्रमाण है। भारतीय राजनीति की गतिविधियों पर अब वे ज़्यादा खुलकर और निर्णयात्मक ढंग से बातें करते थे।

समकालीन भारतीय राजनीति को निर्णयात्मक न बना पाने के कारण वे तमाम वामपंथी आंदोलनों के प्रति आलोचनात्मक रुख़ रखते थे। उनका विचार था कि

1. आत्मसाक्षी (*माया*, 1965, विशेषांक, संपादक : मार्कण्डेय)।

भारत में किसी शाब्दिक ढंग की वामपंथी एकता के बदले हमें जनता के बीच की एकता के आधारों को पहचानना चाहिए। श्री जयप्रकाश नारायण के पास जनाधार है, वे जनता को किसी आंदोलन के साथ गोलबंद कर सकते हैं। घटनाक्रमों ने अवश्य ही इसे सिद्ध कर दिया।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के प्रति उनका रुख़ धीरे-धीरे आलोचनात्मक से कुछ ज़्यादा ही सख़्त होता जा रहा था। मगर इसे लेकर तनाव का अवसर बहुत कम आया। इसका कारण रेणु का मितभाषी होना था।

यदि रेणुजी की जीवनी लिखी जाय, तो वह पुनर्मूल और पुनर्मूल्यांकन की समकथा बन जाय। ऐसा सोचने का मेरा आधार यह है कि उन्हें बलात् नज़रअंदाज़ करने की चेष्टाएँ की गई हैं। समाजवादी कहे जानेवाले लोगों ने शायद उनकी सबसे ज़्यादा उपेक्षा की है। उसके बाद प्रगतिशीलों की बारी आएगी। उनके जीवन की परिघटनाओं को हमने हमेशा नज़रअंदाज़ किया है। जिन लोगों ने भी उनके संबंध में लिखा है, वे उनके पूरे विकास-क्रम से अपरिचित रहे हैं। उनके संबंध में औपचारिक रूप से यों बहुतों ने लिखा है, मगर यह सब ऊपरी है। कहीं-कहीं बातें जिस अंदाज़ में कही गई हैं, उनसे सहमत हो पाना बहुतों के लिए संभव नहीं है।

रेणु की जड़ें दूर तक गाँव की जिन्दगी में पैठी हुई हैं—भारतीय गाँव, छोटे-बड़े, क़स्बानुमा। कभी-कभी शहर भी गाँवों का आभास देता है। मार्क्स ने इन ग्राम-समुदायों को 'नदी के द्वीप' कहा था—जड़ और निरीह। मगर उन्होंने यह भी लक्षित किया था कि अपनी निरीहता के बावजूद इन ग्राम-समुदायों ने विचित्र शक्तियों का उत्सर्जन किया है। अनेक निरंकुश पूर्वी साम्राज्य इन्हीं गाँवों से अपना पोषण प्राप्त करते रहे हैं। विशाल ब्रितानी साम्राज्य का पोषण इन्हीं गाँवों से हुआ था। अवश्य ही समय-समय पर ऐसी लहरें आईं, जिन्होंने इसकी जड़ता को तोड़ा। मगर यह सब एक पुराकथा है। रेणु के समकालीन गाँव एक लंबे और कष्टकारी दौर से गुज़र रहे थे। आज़ादी ने कम-से-कम इस कष्टकारी दौर को जनभावना के भीतर समाप्त कर दिया था। गाँवों में यह भावना जन-आंदोलनों के माध्यम से पैदा हुई थी। अपने समकालीन ग्राम-समुदायों की निरीहता के बावजूद रेणु ने उन्हें जड़ नहीं पाया था। रेणु के साहित्य में गाँव जीवित हैं—धड़कते हुए और प्रतिक्रिया करते हुए।

रेणु को इन गाँवों से लगाव था। लंबे अर्से तक वे इन गाँवों से जुड़े हुए थे। शहर आकर शायद गाँव उनकी आँखों में और भी रंगारंग हो उठे थे। शहर के संदर्भ में गाँव की जिन्दगी के बहुत सारे जीवित तत्त्वों का रहस्य खुलने लगा था। रेणु को अपनी भद्रता गाँवों से ही प्राप्त हुई थी, इसलिए उसमें गहरी आत्मलीनता थी। शहरी भद्रता हमेशा आभास देती रहती है, वह अपने को भूल नहीं पाती। रेणु की भद्रता में ऐसा कुछ भी न था। *मैला आँचल* रेणु ने पटना में ही रहकर पूरा किया

था। लगता है, वे पटना में रहकर भी उसके बाहर जी रहे थे। अबोध वामपंथी जब भाषा की स्मृतिहीनता की शिकायत करते हैं, तो मुझे लगता है कि यह सब कुछ नया कहने की आदत से ज़्यादा कुछ नहीं है। भाषा न तो कल्पनाहीन होती है और न स्मृतिहीन। वह आगे-पीछे से जुड़ने की क्षमता खोकर जीवित ही नहीं रह सकती। रेणु की भाषा में तो स्मृतियाँ इतनी सजीव हैं कि उनके गुज़रने का आभास भी नहीं होता। ऐसी समृद्ध स्मृतिशील भाषा के रहते हुए अगर कोई शिकायत करता है, तो हम उसे नज़रअंदाज़ कर सकते हैं।

इन भारतीय गाँवों को रेणु ने फिर से और नए सिरे से देखना-परखना शुरू किया था। उत्पादकता और सामाजिक न्याय की बनावट सबकी प्रायः एक-सी है। सामंतवाद का कुक्षिम्भर अजगर सब पर कुंडली मारे बैठा है। गुन्नार मिर्डल को पढ़े बग़ैर भी रेणु जानते थे कि एशियाई देशों में, कृषि-उत्पादन में वृद्धि और सामाजिक न्याय, दोनों को एक-दूसरे की प्रगति में योगदान करना है। पूरा ढाँचा इस योग में बाधक है। इस ढाँचे को बदले बग़ैर प्रगति नहीं होगी। मगर जब तक ढाँचा बदल नहीं जाता, तब तक गाँव सोया रहे, इससे हास्यास्पद बात और क्या हो सकती है?

भूमि-संबंधों और उनके अंतर्विरोधों के बारे में रेणु की जानकारी क़िताबी न थी। यही नहीं, उन्होंने ग्रामीण संस्थाओं की निरंकुशता को प्रत्यक्ष देखा था। फलतः उनके गाँवों में अंतर्विरोधों के मार्मिक प्रकरण हैं। ये प्रकरण उन्होंने कल्पना से नहीं गढ़े। बचपन से ही इस निरंकुश व्यवस्था का उन्हें बोध था, जो अंततः एक सामाजिक संघर्ष के दर्शन में बदल गया। इस दर्शन को रेणु ने जीवन में उतारा—अपने कार्य-व्यापारों के रूप में। नेपाली क्रांति और समाजवादी आंदोलन से जुड़कर उन्होंने इस दर्शन को व्यावहारिक सच्चाई बना लिया।

लोकतंत्र और संपूर्ण क्रांति के अनिवार्य और ऐतिहासिक संबंधों को लेकर उनकी समझ स्पष्ट थी। यह समझ व्यावहारिक अधिक थी, सैद्धांतिक कम। 'दूरदृष्टि' की तरह इन सवालों पर बहस वे नहीं करते थे। इन सवालों पर वे व्यावहारिक कार्यक्रम को ज़्यादा अहम मानते रहे, इस पर दो राय नहीं हो सकती। मूलगामी परिवर्तन के लिए सरकारी तंत्र में उनका विश्वास न था। वे इस तंत्र की मानसिक बनावट को ज़्यादा अच्छी तरह समझते थे। लोकतंत्र के बिना सामाजिक न्याय संभव नहीं है। मगर हम जिस लोकतंत्र में हैं, वह एक प्रकार का राज्यतंत्र है। फिर भी वह पुराने तंत्र की अपेक्षा अधिक गतिशील है। इस तंत्र के दोनों पक्षों पर उनकी सावधान दृष्टि थी। यही कारण है कि इस तंत्र की निरंकुशता के विरुद्ध जब संघर्ष प्रारंभ हुआ तो वे उसकी अगली क़तार में आ गए—नेता की तरह नहीं, कार्यकर्त्ता की तरह।

एक संरक्षणशील समाज में क्रांतिकारी प्रक्रिया की जटिलताओं से रेणु अपरिचित न थे। स्वयं उन्होंने नेपाली क्रांति की पृष्ठभूमि में इन तमाम जटिलताओं

का अनुभव किया था। पर वे इसीलिए निराश नहीं हुए थे। वे जनता की शक्ति में विश्वास करते थे। नेतृत्व के संबंध में वे अवश्य इतने आश्वस्त न थे। उन्होंने नेतृत्व की सीमाओं को बड़ी सावधानी से देखा-परखा था। यही कारण है कि संपूर्ण क्रांति के संदर्भ में वे तमाम तथाकथित क्रांतिकारी शक्तियों की एकता को लेकर कभी आश्वस्त न हो सके थे। मगर अपनी इस भावना को उन्होंने रणनीति के ऊपर कभी नहीं थोपा। वे जानते थे कि इससे आंदोलन में बाधाएँ आएँगी और उसकी भावनात्मक शक्ति क्षीण होगी। श्री जयप्रकाश के क्रांतिकारी व्यक्तित्व और कर्तव्य में उनकी आस्था लगभग ध्रुव थी।

आज़ादी के बाद से ही वामपंथी एकता को लेकर विभिन्न राजनीतिक पार्टियों में सरगर्मी पैदा हो रही थी। रेणु ने अनेक कथात्मक प्रसंगों में इसका नाटकीय उल्लेख भी किया है। यद्यपि ये प्रसंग कथात्मक हैं, फिर भी कथा से बाहर इनका महत्त्व मानना चाहिए। *परती : परिकथा* में विस्तार से प्रस्तुत कुबेर सिंह और जितेन्द्र के संबंध में वामपंथी एकता को लेकर उनकी टकराहटों की चर्चा कई दृष्टियों से महत्त्व की हो जाती है। कांग्रेस के राजनीतिक प्रभुत्व को तोड़े बिना यह संभव न होता। पर क्या इस एकाधिकार को केवल अकेली पार्टी-शक्ति पराजित कर सकती है? वामपंथी शक्तियों की एकता के पीछे यही समझ कार्य करती दिखाई पड़ती है। रेणु कम्युनिस्ट न थे, समाजवादी थे, पर उनका समाजवाद इस अर्थ से ज़्यादा नीति-निपुण और उदार था। फ्रांस और इटली के अनुभवों से भी वामपंथी एकता की समझ पुष्ट होती थी, लोहिया का कम्युनिस्ट विरोध श्री जयप्रकाश से ज़्यादा तीखा और कठोरतावादी था।

संपूर्ण क्रांति के संदर्भ में यह एकता दिखाई भी पड़ी। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को छोड़कर अन्य वामपंथी पार्टियों ने इस परिवर्तन का समर्थन ही नहीं किया, उसे बाहर से बल देने का भी वायदा किया। नागार्जुन जैसे कवि-लेखक पटना में आंदोलन का समर्थन कर रहे थे। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) की नीति भी समर्थन की थी, पर यह सब वैसा ही क्षणस्थायी साबित हुआ, जैसा 1967 में हुआ था। दो वर्षों के आस-पास क्रांतिकारी लहर बिखर गई। अवश्य ही इससे रेणु को भावनात्मक रूप में धक्का लगा था। यद्यपि उन्होंने स्पष्ट रूप से इस संबंध में नहीं लिखा, पर यदि उनकी डायरी और काग़ज़ात हमें उपलब्ध हों, तो उनसे इस पर प्रकाश पड़ सकता है।

इन घटनाक्रमों ने रेणु के विश्वासों को भीतर-ही-भीतर तोड़ा चाहे न हो, पर निराश अवश्य किया था। यह निराशा किन-किन रूपों में प्रकट हुई, इसे तो ज़्यादा नज़दीक के लोग ही बता सकते हैं। उन पर विशेषांक निकले हैं, उनसे भी इस पक्ष पर कोई विशेष प्रकाश पड़ता हुआ नहीं दीखता। बीमारी ने इस निराशा को कितना छिपाया था, यह कहना भी मेरे लिए संभव नहीं है। पर ऐसा जरूर

लगता है कि बीमारी रक्षा-कवच की तरह काम कर रही होगी, ठीक उसी तरह जिस तरह 'मुक्ति-प्रसंग' काल की बीमारी—राजकमल चौधरी के लिए रक्षा-कवच का कार्य कर रही थी। पर इस समानता को किसी हद तक निर्णायक मान लेना संभव नहीं।

इस प्रसंग को एक अंतर्कथा की तरह ग्रहण करने के पीछे मेरी अपनी सीमाएँ भी रही हैं। संभव है, इसमें कुछ कमियाँ रह गई हों। पर इसे स्वाभाविक माना जा सकता है। यह पृष्ठभूमि इतना तो संभव कर ही देती है कि रेणु के साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि के लिए—लिखना-कहना-जानना—इसका सही आलोचनात्मक उपयोग किया जा सके। रेणु के संबंध में अभी बहुत कुछ कहना शेष है।

धरती-पुत्रों की रपट

जियो बोग़ज़ा ने रिपोर्ताज को एक 'साइसिमोग्राफ़' कहा है, जो सुदूर और भीतरी कंपन की गतिविधियों को सूचित करता है। धरती और धरती-पुत्रों की रिपोर्टिंग से साहित्यिक लेखन प्रारंभ करनेवाले रेणु में आश्चर्यजनक संवेदनशीलता है। यह साहित्यिक रिपोर्टिंग मात्र सूचना नहीं देती, वह मानवीय स्तर पर कंपन, उथल-पुथल और आंतरिक जीवनलय के समस्त उतार-चढ़ाव को भी गहराई से उजागर करती है।

धरती-पुत्रों के राग-विराग की यह दुनिया अपनी छाया-छवियों में जितनी समृद्ध है, उतनी ही सामाजिक-सांस्कृतिक क्रियाकलापों में भी है। व्यापाररत जीवन और समाज के संबंधों-तनावों तथा गहरे स्तर पर अंतर्लयन से उत्पन्न जड़ता को मूर्त करनेवाले ये तमाम रिपोर्ताज निश्चित रूप से महत्त्व के हैं। ये रचनाएँ तथाकथित शब्दचित्रों और ललित रंग-रेखाओंवाले संस्मरणों से अपने को अलग करती हैं।

रेणु के ये रिपोर्ताज शैलीकृत ललित ब्यौरों से भिन्न हैं। श्री रघुवीर सहाय ने ठीक ही लिखा है—'रेणु का देखना एक ही साथ बाहर और भीतर दोनों ओर होता है। यही उनके ब्यौरों को अर्थ देता है।'[1] इन अर्थ और व्यापार से भरे ब्यौरों में एक पूरी लोक-लहर है जो हमें क्रमशः *मैला आँचल, परती : परिकथा* से होकर *दुमरी* की दुनिया में ले जाती है। ऐसा लगता है जैसे एक ही अविभाज्य तत्त्व इन सभी कृतियों में है। इस अविभाज्य तत्त्व की व्याख्या से रेणु की कथात्मक संरचना पर ही नई रोशनी नहीं पड़ती, बल्कि उनकी कला का वास्तविक समकालीन अर्थ भी प्रकट होता है।

विशाल हिन्दी प्रदेश के सांस्कृतिक परिदृश्य की विविधता को समझने में आंचलिकता एक हद तक सहायक होती है। यह कुछ अजीब-सी बात है कि इस आंचलिकता को शहर बनाम गाँव की बहस में घसीटा गया है। भारतीय उपमहाद्वीप के विस्तार में इन अंचलों का अपना सहवर्त्ती अस्तित्व रहा है। पूरे जातीय और राष्ट्रीय जीवन की धारा से सहवर्त्ती होकर भी ये अंचल अपनी स्वतंत्र पहचान बनाए रखते हैं। जातीय अस्तित्व के अंग के रूप में इनका महत्त्व हमारे इतिहास-भूगोल में सदा से स्वीकृत है।

हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन और क्रियाकलापों पर असरदार तरीक़े से कार्य करनेवाला यह 'तत्त्व' समय की मार की ज़द में आकर भी ज़िन्दा है। इसी ज़िन्दगी को अपने साहित्यिक रिपोर्ताज में उतारने का रचनात्मक कार्य रेणु ने अपने लेखन के प्रारंभ में संपन्न किया है। इन रपटों को पढ़ते हुए रेणु से एक और साक्षात्कार होता है—ताज़ा सरोकारों और चिन्ताओंवाले रेणु से, धड़कते और प्रतिक्रिया करते रेणु से।

धरती की रपट और धरती-पुत्रों की रपट रेणु के लिए अलग-अलग क्रियाएँ नहीं हैं। धरती अपने जन से जीवित होती है। रेणु के लिए जन धरती के पुनरुज्जीवन के कारण और हेतु हैं। इन रपटों में लघु और विराट् की अंतर्योजना कुछ इस तरह प्रभावी है कि हम उसमें संपूर्ण वर्तमान के साथ अपने अतीत को भी समेटते चलते हैं।

इन आंचलिक रपटों की सार्थकता, मेरी दृष्टि में, एक अन्य कारण से भी है। ये रपटें दिखलाती हैं कि किस तरह भारत के अंचल परिवर्तन के लिए छटपटा रहे हैं और राष्ट्रीय धारा से मिल जाने की उनकी कोशिशें कितनी महत्त्वपूर्ण हैं। भारत में आधुनिकता की परिकल्पना, इन अंचलों के राष्ट्रीय धारा में शामिल हुए बग़ैर असंभव है। रेणु के ये रिपोर्ताज यही सिद्ध करते हैं कि भारतीय उपमहाद्वीप के स्तर पर ग्राम-समुदायों और अंचलों के जीवन की जड़ता टूट रही है और आज़ादी के बाद उनकी धड़कनें इसी कालातीत, जीवन के द्वीपों की तरह आत्मनिर्भर (या जड़?) गाँवों की वास्तविकता को बदलेंगी; ऐसी क्रांतिकारी आशाएँ अन्य तमाम लोगों के साथ रेणु के मन में भी थीं। उनकी इन साहित्यिक रपटों का महत्त्व इस मौलिक कारण से भी है।

रेणु के साहित्यिक रिपोर्ताज की तीन स्पष्ट शृंखलाएँ दिखाई पड़ती हैं। पहली शृंखला में *विद्यापति* और *रस प्रिया* वाले रिपोर्ताज हैं। दूसरी शृंखला में *सोनो आमाँ* और तीसरी शृंखला में *ऋणजल-धनजल* आता है।

विद्यापति-रसप्रिया शृंखला के रिपोर्ताज में कैसी एक तन्मयता है! जयदेव, विद्यापति, चंडीदास, मीरा, कबीर की-सी तन्मयता! विद्यापति की यह लहर हमें रेणु की कहानियों में भी ले जाती है और उनके उपन्यासों में भी। इन रपटों में एक स्वतंत्र आंतरिक लय है, जिसका संबंध एक व्यतीत होते हुए देशकाल से भी है और उस समुदाय से भी है, जो इस देशकाल के साथ नाभिनाल से जुड़ा है। 'मिरदंगिया' इसी दुनिया का चरित्र है—रिक्त होती हुई दुनिया का। मगर यह दुनिया उसके लिए अब भी अर्थहीन नहीं हुई। राग-विराग का एक पूरा आत्मिक संसार मिरदंगिया के साथ हमारी कल्पना में जीवित हो उठता है। इनकी छाया-छवियाँ मात्र

1. *ऋण जल : धन जल* की भूमिका से।

प्रतिकृतियाँ नहीं हैं। रेणु ने संवेदनशीलता से अर्थ और आकार में स्वतंत्र, किन्तु वर्तमान में विवश, इस दुनिया को भावना में जीवित रखने का एक महत्त्वपूर्ण प्रयास किया है।

छोटे-छोटे सपनों से लेकर अतिकाय दुःस्वप्नों तक रिपोर्ताज के विषयों का चुनाव यह सिद्ध करता है कि उनकी रपटों की दुनिया छोटे आकारोंवाली बड़ी दुनिया है। उसकी विराटता इन लघु-लघु आकारों के अंतर्लय में है। *विद्यापति* से *डायन कोसी* का अंतर्लय इस ओर भी स्पष्ट करता है।

रेणु की इन रपट-शृंखलाओं में विषय के साथ-साथ लेखकीय 'टोन' भी बदल जाता है। *विद्यापति* शृंखला की रपट जहाँ अपने टोन में रसमय, स्मृतियों से उत्तेजित अतीत और भावनाओं के स्मृति-संसार को पुनरुज्जीवित करनेवाली है, वहीं *डायन कोसी* और *ऋणजल धनजल* शृंखला के रिपोर्ताज अतिशय और अतिकाय आकारवाले दुःस्वप्न की तरह आतंककारी हैं, पर रेणु इन दुःस्वप्नों को जीवन की चुनौती की तरह स्वीकार करके चलते हैं।

साहित्यिक रिपोर्ताज रेणु की कलात्मक संरचना के भी अंश हैं। जिस लोक-लहर को रेणु ने आगे चलकर अपनी कला का विषय बनाया, उसका जीवन इन रपटों में है। जीवित साहित्यिक तत्त्व की तरह वह रेणु में प्रकट होता है। यही कारण है कि रेणु के रिपोर्ताज शैलीबद्ध और रीतिबद्ध भावों-मुद्राओं से प्रायः मुक्त हैं। इनमें राग-विराग की नाटकीयता के साथ-साथ प्रगति की आत्मीयता भी है जो रेणु के समस्त कला-साहित्य की विशेषता है। इनमें अतीत का व्यामोहपूर्ण इंद्रजाल भी है, व्यतीत होते हुए तथ्यों की पीड़ा भी है और साथ-साथ परिवर्तन का सहज उत्साह-उल्लास भी है। अनुभवों की ऐसी निविड़ता अन्यत्र कम मिलती है; रेणु के लघु उपन्यासों में भी नहीं।

रेणु की इन कथा-रपटों का फलक निश्चित ही काफ़ी विविध है—देशकाल के भीतर भी है और जनजीवन के सांस्कृतिक अंतराल में भी है। दुःख की बात यह है कि रेणु के रिपोर्ताजों का एक बड़ा हिस्सा पत्र-पत्रिकाओं में बंद पड़ा है और बहुत-सा प्रायः अनुपलब्ध है। इन सीमाओं के बावजूद जिन तीन शृंखलाओं की मैंने चर्चा की है, वे रेणु के संदर्भ में प्रातिनिधिक महत्त्व की हैं। रेणु के साहित्य का संकलन-प्रकाशन अभी तक पूर्ण नहीं कहा जाएगा। इस सीमा को स्वीकार करने के अलावा हमारे पास किसी प्रकार का विकल्प नहीं है। जीभ रस के लिए आसपास की दुनिया के कई मार्मिक रेखाचित्र भी उन्होंने कलात्मक क्षमता से अधिक आत्मीय रंगों में उकेरे हैं। उनमें रूप रचना के अतिरिक्त स्वाद का आनंद भी है।

विद्यापति शृंखला के द्वारा रेणु ने सांस्कृतिक अंतराल को भरने का प्रयास किया है। कोशी के कछार में फैली मिथिला संस्कृति के भावनात्मक तत्त्वों को जिस रूप में इन रपटों में प्रकट किया गया है, उनका अपना स्वतंत्र महत्त्व है। जीवित

तत्त्वों के रूप में इनसे साक्षात्कार का अपना रस और स्वाद है, जिसने उन्हें अपने कथा-साहित्य में सर्वथा अलग पहचान दी है। रिपार्ताज-कथाओं के प्रसंग में उनकी विस्तारित चर्चा की गई है।

सोनो आमाँ शृंखला के रिपोर्ताज़ भावना की दुनिया का एक अन्य परिपार्श्व प्रकट करते हैं। क्रांतिकथाएँ इनका अविभाज्य अंग हैं। इस क्रम की अन्य रचनाएँ मुझे चेष्टा करने के बाद भी उपलब्ध न हुईं; शायद उनकी डायरियों से उनकी ठीक ठीक सूचना प्राप्त हो सके।

नेपाल : मेरी सोनो आमाँ और *क्रांतिकथा* के शीर्षकों में विभाजित ये रपटें वस्तुतः एक ही वास्तविकता के प्रतिरूप हैं। *सोनो आमाँ*—छोटी माँ कभी बंगाल की धरती है, जिसे रेणु अपनी जन्मभूमि मानते हैं और कभी नेपाल की धरती, जो उनकी वास्तविक छोटी माँ है। रेणु जीवित होते तो आगे लिखते—धरती : मेरी सोनो आमाँ। क्रांति की प्रेरणा से भरी ये कथाएँ अपनी गतियों में अतीत की नहीं हैं, उसके उस हिस्से की हैं जो व्यतीत होकर वर्तमान पर कुंडली मारकर बैठा है। परिवर्तन के लिए पुकारती हुई धरती, और जन—छटपटाती धरती की धड़कनें—इन रपटों में बार-बार सुनाई पड़ती हैं। यह दुनिया तीसरी दुनिया की समस्त पीड़ाएँ झेलती है—नए जन्म की पीड़ाएँ। इस दुनिया से रेणु जुड़ते हैं। यों तो भारतीय साहित्य में यह गंध नई नहीं है, पर उसका विस्तार एकदम नया है।

इन रिपोर्ताज कथाओं और रपटों की अपनी विचारधारा और भावधारा है। विचारधारा और भावधारा का ऐसा एकांत समन्वय बाद में स्वयं रेणु के साहित्य में नहीं मिल पाता। स्पष्टतः इस लेखन में वैसी कोई आंतरिक जटिलता नहीं है, जो तथाकथित आधुनिक लोगों में बार-बार प्रकट होकर अपना अर्थ और आकर्षण खोती रहती है। धरती और धरती-पुत्रों की मुक्ति की यह कल्पना—यह सहमुक्ति—इन रचनाओं की विचारधारा में रच-बस गई है। *क्रांतिकथाएँ* इसी का अगला सिलसिला है। इन क्रांतिकथाओं का टोन *सोना आमाँ* के टोन से भिन्न नहीं है। समय के साथ उनमें गरिमा और दृढ़ता आई है। *दिनमान* में कतिपय प्रकाशित भी हैं। अन्य पत्र-पत्रिकाओं में भी उनका क्रम मिल जाएगा। क्रांतिकारी मानसिकता की अनाहत निरंतरता को पहचानने के लिए ये रिपोर्ताज दस्तावेज़ी महत्त्व रखते हैं। इन दस्तावेज़ों को समन्वित रूप में परखने की आवश्यकता है।

आज़ादी रेणु के लिए एक संपूर्ण भावना है। अपने रिपोर्ताजों, कहानियों, उपन्यासों और डायरियों में उन्होंने इस संपूर्ण भावना का इज़हार किया है। आज़ादी का अर्थ उनके लिए संपूर्ण क्रांति ही हो सकता है, पर आज़ादी अपने राजनीतिक अर्थ में बुनियादी है। वह संपूर्ण क्रांति की धुरी है। इनमें परिकल्पनाएँ भी हैं, गाथा और मिथक भी हैं। क्रांतिकथा के परिपार्श्व में विकसित इन रचनाओं में विषय से सहजात विषयों का यह मांसल संपर्क बेहद ताज़ा है।

रेणु के ये रिपोर्ताज मात्र परिदृश्यात्मक नहीं हैं, जैसा पहली नज़र में लगता है। अपने रूप-गठन में भी ये औपचारिक नहीं हैं। इनकी सुंदरता इनके रचनात्मक कटाव में नहीं है। इनमें लोक दृश्य तत्त्व है, पर वह मात्र यही नहीं है। सौन्दर्य को रेणु मानसिक प्रत्यक्षीकरण का विषय नहीं मानते हैं। उनके लिए सौन्दर्य का विषय लोक में है, मात्र भोक्ता के मन का विषय नहीं है और यह विषय जन भी है, उनकी वास्तविक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक स्थितियाँ भी हैं।

वनराजि, उपत्यका और अधित्यका के साथ मैदानों का यह परिदृश्य अपनी निर्धनता, भूख, बीमारी, शोषण और दासता के प्रतिमुख तत्त्वों के लिए भी उतना ही ध्यानाकर्षक है। हमारे एक वरिष्ठ कहानीकार की शिकायत है कि आज की अधिकांश हिन्दी कहानी रिपोर्ताज से ऊपर उठकर लिखी नहीं जाती। रपटों से यह कलात्मक दूरी उनकी अपनी चिन्ता का विषय हो सकती है; मगर हिन्दुस्तान अभी वास्तविक साहित्यिक रपटों के लिए अपनी आँखें ही खोल रहा है। जिन घटनाक्रमों से आए दिन हमारा देश गुज़र रहा है, उनमें भूदासों का जीवन, सूखा-बाढ़, अकाल, हरिजन-हत्याएँ, भूमि-संघर्ष, महँगाई, बेकारी और जड़ता के अन्य अनंत तत्त्व वर्तमान हैं। ये तमाम समस्याएँ व्यापक और वास्तविक सूचनाओं की अपेक्षा रखती है। कलाकार का मन अगर इन समस्याओं से प्रतिकृत होता है तो इससे उससे रचनात्मक संभावनाएँ बढ़ती ही हैं। ऐसी वस्तुगत सूचनाओं से रेणु के कलात्मक मन को प्रेरणा मिलती है। कला की कोई विधा रेणु के लिए हाथी दाँत की मीनार नहीं है।

अतिकाय दुःस्वप्नों वाली शृंखला में आए रिपोर्ताज़ के संबंध में श्री रघुवीर सहाय ने ठीक लक्षित किया है कि 'इनके लिए रेणु को देशपार करके कहीं जाना नहीं पड़ता,.....जहाँ देश में संक्रमण होता है वहाँ काल में यात्रा अनिवार्य हो गई है।'[1] स्पष्टतः देश और काल में मनुष्य के प्रतिकूल होने की ये कथाएँ विराट् लोकवृत्त में बदल जाती हैं और उनसे ही *मैला आँचल* जन्म लेता है।

साधारण की प्रतिष्ठा के लिए हमारे देश में विचारधारात्मक संघर्ष की एक लंबी परंपरा रही है। रेणु के साहित्य में भी इस विचारधारा का अभाव नहीं है। वैसे उनकी भावधारा में यह संघर्ष अधिक साकार हुआ है। सामाजिक दौड़ में काल में पिछड़ गए इन साधारण लोगों की कालकथा ही रेणु ने लिखी है। यह कालकथा घटनाओं से भी बनती है और घटनाहीन निरंतरता से भी बनती है। उनकी घटनाहीनता का एक सामाजिक कारण है, जिसकी जड़ें हमारी संरचना में बहुत दूर, पीछे तक जाती हैं। क्या आश्चर्य है कि संपूर्ण व्यवस्था ने उन्हें घटनाक्रमों से बलात् बाहर रखकर जड़ बनाने की निरंतर चेष्टा की है। इस मर्म को समझकर ही रेणु

1. *ऋणजल-धनजल* की भूमिका

ने उन्हें सामाजिक धारा के भीतर खींच लाने की सतत् चेष्टा की है। यह रेणु के लिए न्याय का संघर्ष बन गया है।

न्याय के लिए संघर्ष की यह गाथा रेणु की रिपोर्ताज कथाओं में लयात्मक माँग बन जाती है —

जिदन संकु-संगेन
इमिन् रेयो-लं सलय-एला।[1]

रेणु जानते हैं —

हिसोम भलाई का भी रे दो
हारखेन सामेत मेनाक आ
मुरुकिया मोन ही नोमरा नोलोम देयाय ताम।[2]

ऋणजल-धनजल रिपोर्ताज शृंखला की आखिरी कड़ी भी है और एक संपूर्ण, स्वतंत्र वृत्त-चित्र भी है। इस वृत्त-चित्र को हम *रसप्रिया (विद्यापति)* या *सोना आमाँ* शृंखला से अलग एक तात्कालिक घटना की तरह नहीं देख सकते। वस्तुतः बाढ़ और सूखा दोनों ही भारतीय अकाल के तत्त्व हैं। घटनाएँ तो मात्र ब्याज होती हैं— अकाल जैसे भारतीय गाँवों की नियति है। भारतीय गाँवों में आर्थिक जड़ता जितनी एकरूप है, उनका सांस्कृतिक वैभव उतना ही विविध है। सदियों से सहजीवी अनेक जाति-समुदायोंवाली यह ग्राम-संस्कृति 'मिट्टी की प्रतिमा उदासनी' बन जाय, इससे बड़ी दुर्घटना संपूर्ण इतिहास में और क्या हो सकती है?

ऋणजल-धनजल एक अतिकाय दुःस्वप्न है। इन घटनाक्रमों से रेणु का व्यक्तिगत संबंध है। उनके ही शब्दों में, 'मेरा गाँव ऐसे इलाके में है, जहाँ हर साल पश्चिम-पूरब और दक्षिण की कोसी, पनार, महानंदा और गंगा की बाढ़ से पीड़ित प्राणियों के समूह आकर पनाह लेते हैं। सावन-भादों में ट्रेन की खिड़कियों से विशाल और सपाट परती पर गाय-बैल-भैंस-बकरियों-भेड़ों के हज़ारों झुंड-के-झुंड देखकर ही लोग विभीषिका का अंदाज़ लगा लेते हैं।'

सन् '47 के आसपास शुरू होकर यह शृंखला '75 तक चलती है। कोसी क्षेत्र से परिदृश्य बदलकर पटना तक विस्तारित होता है। जहाँ पत्रकारिता के लिए बाढ़ और सूखा ख़बरें हैं, वहाँ रेणु के लिए वे भारतीय गाँवों के कालपृष्ठ पर लिखे गए नियति के अभिलेख हैं। इन्हें नाटकीय बनाने का कोई कारण रेणु के लिए नहीं है। वे उपमहाभारतीय क्षेत्र के रहनेवाले हैं, जहाँ हिमनदियों और पर्वतीय वर्षा से बाढ़ की विभीषिका का एक नियत तत्त्व है। पर परिदृश्य बदलाव के क्रम में अवश्य

1. सुख के जीवन के लिए, आइए, ढूँढ़ना है, पाना। (एक संताली गीत की कड़ी)
2. देश की भलाई के काम में दुःख और कष्ट हैं, अपने मन की दृढ़ता को छोड़ो मत भाई! (एक संताली कविता)

नाटकीय हो जाता है। पटना की बाढ़ का वर्णन अवश्य ही नाटकीय है, अतिरिक्त संयोजित अर्थ में।

कोसी अंचल में बाढ़ जहाँ एक नियत घटना-क्रम है, वहाँ पटना की बाढ़ एक आकस्मिक दुर्योग है। इन दोनों प्रकार के घटना-क्रमों की विभीषिकाओं का चित्रण लेखक ने किया है। वैसे दोनों प्रकार की घटनाएँ एक ही आततायी अनुभव को मूर्त्त करती हैं। देश और काल के बदलते परिदृश्य में एक ही अनुभव सतत् बना रहता है—आतंक और मृत्यु का अनुभव। पर इनके बीच संघर्षशील मनुष्य की वह गाथा भी साकार होती है, जिसके कारण वह इन तमाम परिस्थितियों में भी अजेय बना रह जाता है।

जो कुछ होता है, वह रोचक भी हो सकता है, पर उनके लिए जो उससे बाहर रह गए हों; जो घटना की ज़द में हों उनके लिए घटना का वही अर्थ नहीं होता। इस अर्थ को एक संपूर्ण स्थिति में बदलकर रेणु हमें घटना की ज़द में ले आते हैं। घटना प्राकृतिक भी हो सकती है और मानवकृत संकट भी। इनके आपसी रिश्तों को सामाजिक और मानवीय हित में तय करना रेणु के इन रचनाधर्मी रिपोर्ताजों का उद्देश्य है। यह इन रपटों का गहरा सामाजिक अर्थ है।

सबसे पहले *ऋणजल*; वस्तुतः रघुवीर सहाय के शब्दों में यह नाटक, कविता, कहानी सबकुछ है। रपट की आंतरिक संरचना सर्जनात्मक, कलात्मक हो सकती है—इसे रेणु ने सिद्ध कर दिया है। नाटकीय प्रत्यक्षता और किसी मार्मिक संगीत की दुःखद अंतर्ध्वनियों से समेकित इन रपट-कथाओं में मानवीय तत्त्व कलात्मक तत्त्वों से अभेद संबंध स्थापित करते हैं। हमारी व्यवस्था और सामाजिक नैतिकता को लगातार चुनौती देती ये घटनाएँ छिटपुट घटनाएँ नहीं हैं।

रेणु में, प्रारंभिक रचनाओं में, एक विचित्र प्राणशक्ति लक्षित की जा सकती है। यह प्राण-शक्ति अजेय है। कुरूपताओं और मारक विभीषिकाओं के बीच मृत्यु और दुर्योग से संघर्ष करती यह प्राण-शक्ति तमाम घटनाओं से ऊपर है। यही मानवीय प्राण-शक्ति और युयुत्सा का परिणाम है।

ये रचनाएँ, जैसा स्वयं रेणु कहते हैं, मात्र पिण्ड-प्रहार नहीं है। इन्हें अलग-अलग इकाइयों में देखनेवाली दृष्टि इतिहास और यथार्थ के बाधक तत्त्वों को नजरअंदाज़ कर जाती है। रेणु की नाटकीयता की नाटकीय व्याख्या से, जैसा निर्मल वर्मा कहते हैं, कुछ पाया नहीं जा सकता। इस नाटकीयता का मेरे लिए इतना भर महत्त्व है कि इसके द्वारा हम कथा भाग की तीव्रता की तरह ही कथोपकथन भाग की तीव्रता को भी पहचान लेते हैं। नागर के उपन्यासों की तरह उनकी कलात्मक पहचान में सर्वत्र यह तीव्रता दिखाई पड़ेगी। यह पहचान उन्हें सतीनाथ भादुड़ी से भी प्राप्त हो सकती है। भारतीय कथा-साहित्य में यह एकदम नया और आकस्मिक तत्त्व तो नहीं है। यह दूसरी बात है कि भारतीय उपन्यासों में निर्मल जी को यह सबकुछ पहली बार रेणु में प्राप्त होता है।

घटना से कथन और संवाद का आकार बड़ा हो जाता है·····यह स्वाभाविक भी है। पटना की बाढ़ का प्रसंग अपने आकार में नहीं, प्रकार में नाटकीय हो गया है। 'गोलघर डूबे गेछे'—इस नाटकीय संवाद में चाहे अतिरंजना हो पर बाढ़ के आतंककारी क्रम में यह नाटकीय नहीं रहता। आतंक माथे चढ़ जाता है—'लौटा ले भइया! आगे बढ़ने की ज़रूरत नहीं।' आत्मसंतोष के लिए इतना कुछ काफ़ी है, पर यह तो एक बचाव है, व्यक्तिगत।

और अब सूखा। सन् '66 के अकाल की बेहद मारक परिस्थिति। बाढ़ का कारण दृश्य है। सूखा एक अदृश्य कारक है। इस सूखे का प्राकृतिक घटना से अधिक मानवीय दुर्भावना के रूप में चित्रित करके लेखक ने वर्ग-विभाजित समाज में छिपी वास्तविकता को उघाड़ कर रख दिया है। *ऋणजल* का अदृश्य आतंक निरंतर दृश्य होता चलता है—पशुधन और मनुष्य की अपूरणीय क्षति। जीवन पर मृत्यु की गहराती छाया। गया, पलामू, का यह एक ऐसा अनुभव है, जिसे रेणु पूरी मानवीय ईमानदारी के साथ प्रस्तुत करते हैं। सूखे की इस रपट में कुतूहल की नाटकीयता नहीं है। उसमें एक करुणाशील उत्ताप है, जीवित क्रोध। इस विरोधी भावना में कम नाटकीयता नहीं होती। शायद अधिक ही होती है।

रेणु लिखते हैं—'पिछले कई वर्षों से सैकड़ों नाम, शब्द, देश, समस्याएँ और समाचार मेरे लिए बेमानी हो रहे हैं, होते जा रहे हैं।' स्पष्ट है कि एक संवेदनशील और विचारों से उत्तेजित मानस में इनकी प्रतिकृतियाँ तो दिखाई पड़ेंगी ही। वाच्य ही व्यंग्य हो गया है, समाचार व्यर्थ हो रहे हैं, आदमी की ख़बरें फिर भी आदमी को परेशान करती हैं, करती रहेंगी। मनुष्य भावनाहीन हो ही नहीं सकता। परिघटनाएँ जब प्राकृतिक कारणों से अधिक मानवीय कारणों की ओर संकेत करती हों, तब तो और भी नहीं। व्यर्थता साज़िश भरी है। रेणु का मन इसे सहज पहचान लेता है। हम अपनी-अपनी खिड़कियाँ-दरवाज़े बंद करके भी मृत्यु की इस गंध से बच नहीं सकते। यह स्थिति तो और भी मारक हो जाती है—न साफ़ हवा अंदर आ सकती है और न गंदी हवा बाहर जा सकती है और रेणु के मन में तीव्र प्रतिक्रिया होती है—झूठ, बकवास, स्टंट, फ्रॉड।

सूखे की इस रपट में आंतरिक विवशता को रेणु ने खूब पहचाना है—क्या हो गया है उन्हें। आत्मालाप में डूबी यह नाटकीयता सहसा प्रगीत में बदल जाती है। एक दुःखद गीत की कड़ी की तरह। सूखे ने रेणु के मन को गहरे स्तर पर छुआ है। मनुष्य की नियति यही है क्या? व्यवस्था क्या इसी विडंबना का नाम है? क्या ईश्वर इसका अकेला निर्देशक है या उसके कुछ मानव अमले भी हैं, जो अलग-अलग हिस्से का निर्देशन कर रहे हैं? रेणु सूखे की इस घटना को इसी सामाजिक अर्थ में देखते हैं।

तीन-चार ज़िलों का यह क्षेत्र सूखे की चपेट में एक अलग इकाई बन गया

है। प्रशासन अपनी सुविधा के लिए इन्हें बाँट सकता है और इस तरह ज़िम्मेदारी से निजात पा सकता है, पर इस सूखे ने प्रशासनिक बाड़ों को तोड़ दिया है। अंतर्राष्ट्रीय राहत दल आ रहे हैं, बी.बी.सी. / यू.एम.आ. की टीमें आ रही है। कोशिश जारी है, लड़ाई जारी रखनी है—मनुष्य की युक्ति के लिए की जानेवाली लड़ाई, जन और जन-संस्कृतियों के हक़ में लड़ाई जारी है—तीसरी दुनिया के भीतर एक क्रांतिकारी प्रक्रिया जारी है। एक *मैला आँचल*, एक *परती परिकथा* के क्रम में जारी लड़ाई समकालीन यथार्थ के अर्थ से जुड़ी लड़ाई में बदलने लगती है।

ग्राम-व्यवस्था को बदलने में बुद्धिजीवियों की भूमिका को चाहे गाँधीजी ने ज़्यादा करके आँका हो, पर यह सही है, जब तक गाँवों में कृषि-क्रांति नहीं होती, उनका जनाधार नहीं बदलता, तबतक यह कार्य शहरी बुद्धिजीवियों की ज़िम्मेदारी है और, गाँव से संबद्ध बुद्धिजीवियों के लिए तो यह एक अतिरिक्त ज़िम्मेदारी है। रेणु इस ज़िम्मेदारी का पालन किसी औपचारिकता के लिए नहीं कर रहे थे। उनके पास संपूर्ण क्रांति का एक सपना था, जिसमें गाँव-शहर की दूरियाँ मिट जानी थीं।

कहानियों का गंध-परिवेश

क्या रेणु की कहानियों का योगपद या कथा-न्यास वही है, जो उनके बृहत्तर उपन्यासों का है? किसी भी पाठक-आलोचक के मन में ये प्रश्न उभर सकते हैं। रेणु होते तो पूछता 'इस असंभव माया का रहस्य स्वयं उनसे ही खुल सकता है क्या?' पूछता नहीं, मात्र जिज्ञासा भरे स्वर में कहता और तब उनकी मुस्कराहटों की मद्धिम आँच में परखता। उत्तर परखता। आज भी उनकी कहानियों पर लिखते हुए यह प्रश्न उल्लंग खड़ा हो गया है। निःस्पृह यथार्थ से यह गंध-परिवेश कैसे पैदा होता है? कठोरता के भीतर से जन्म लेती यह कोमलता कैसी सकरुण है! *रसप्रिया* से *अगिनखोर* तक कहानियों की यात्रा में एक ही प्रश्न उभरता है। अपनी बनावट में ये कहानियाँ जैसी भी हों, पर अपने स्पर्श में ये कितनी तरल हैं—ऐन्द्रिय स्पर्श की तरह रूप-रस-गंध-स्पर्श-नादमय—ये कहानियाँ कहाँ से अपना जीवन-स्रोत अर्जित करती हैं? इसका उत्तर स्वयं रेणु के शब्दों में देना चाहूँगा। *तीन बिन्दियाँ* कहानी में उन्होंने लिखा है—'मूल राग से आँख-मिचौनी खेलती ये छोटी-छोटी आंचलिक कहानियाँ...'।

मूलराग और आंचलिक कहानियाँ! गंधवाह का रहस्य! मूलराग अपनी जगह पर स्थिर है, अनाहत; और छोटी-छोटी रागनियों का वितान उनके चारों ओर लहराता रहता है—भाव-सृष्टि करता रहता है और कहीं-कहीं ठीक इससे स्वतंत्र पद्धति का सहारा भी रेणु लेते हैं। *लालपान की बेगम* या *ठेस* में मूलराग ही गति पैदा करता है, रागिनियाँ स्थिर हो जाती हैं। अगर स्थिर नहीं होतीं तो मूलराग की गतियों में ही लय हो जाती हैं। हेर्मन हेस की कहानियों की तरह! या उससे भी ज़्यादा हेर्मन ब्रोश की तरह। दृश्य जीवन के स्पर्श में तदाकृत होने लगते हैं, महज पटभूमि बने नहीं रहते। बचपन के प्यार की पवित्रता में सामाजिक संदर्शोसहित—मूर्त्त हो उठते हैं। *रसप्रिया* का मिरदंगिया अपने गंध-परिवेश में सामाजिक संदर्श की पीड़ा लिए साकार होता है और यह पीड़ा मोहना की माँ के उस भोले प्रश्न में है—'और तो कुछ नहीं कह रहा था?' नहीं, कहने के पार चली गई हैं स्थितियाँ! साधारण जीवन में यह 'दोस्त राग' कैसा जटिल हो उठता है। यह किसी बीती हुई दुनिया की 'याद' मात्र नहीं है। यह तो एक सनातन भावना है, जो कहानी से होकर

गुज़रते हुए हमें क़ैद कर लिया करती हैं और इस क़ैद में हम अपना सबकुछ भूल जाते हैं।

मुझे लगता है कि रेणु की कहानियों को काल के क्रम में रखकर देखना निरापद नहीं है! ठीक उसी तरह जिस तरह उनके उपन्यासों को कालक्रम में रखकर एक विकासात्मक रूपरेखा नहीं बनाई जा सकती। पर रचना-क्रम के विकास-ह्रास का लेखाजोखा भी अपना महत्त्व रखता है। उस संबंध में फिर कभी यथा-प्रसंग बातचीत करना चाहूँगा। अभी इस प्रसंग को स्थगित भी रखा जा सकता है। रचनात्मक शक्ति का व्यतिक्रम महत्त्वपूर्ण हो सकता है, मगर इस व्यतिक्रम के बावजूद रचनात्मकता अपना अर्थ बनाए रख सकती है। *रसप्रिया* रेणु की प्रारंभिक कहानियों में है, मगर उसका मर्म रेणु के पूरे कथा-साहित्य में फैला है—एक कलाकार का संघर्ष। ठीक उसी तरह जिस तरह *तीन बिन्दियाँ* में मिताली का संघर्ष है। दोनों के परिणाम अलग हैं क्या? ऊपर से ऐसा ही लगता है। पर भीतर से दोनों ही अपने प्रभाव में अखंड हैं। एक कलाकार की आत्मा उस दर्द भरी असफलता को भी सार्थक कर देती है। एक जीवित प्रेरणा में सबकुछ सार्थक हो जाता है। सफलता क्या इससे बड़ी चीज़ है?

यथार्थवाद की कोई रूढ़ शैली हो, ऐसा मानना एक प्रकार का बेहद सतही प्रयास है। शैलियाँ अपने आप में रूप-वर्ग बनाकर यदि नहीं रह जातीं तो वे आदमी और उसकी ज़िन्दगी के रिश्तों को साकार करती हैं, उसकी स्थितियों को निखारती हैं, उसके अनुभवों से जूझती हैं तो उन्हें यथार्थ से प्रतिमुख और स्वतंत्र मानने का कोई कारण मुझे नहीं दिखाई पड़ता। रेणु ने अपनी कहानियों के लिए बहुत अधिक औपचारिक शैलियों का प्रयोग नहीं किया है या किसी रूढ़ शैली का प्रयोग उन्होंने आत्ममुग्धता के आग्रह से नहीं किया है। आंचलिकता उनकी शैली में है तो केवल 'टोन' की अनिवार्यता से—विषय-वस्तु के अनिवार्य कारणों से। इससे ज़्यादा उनके लिए शैली का कोई महत्त्व हो, ऐसा नहीं मालूम पड़ता।

संवेगों को कलात्मक महत्त्व देकर भावनाओं और विचारों की उपेक्षा यथार्थवाद नहीं है। रेणु की कहानियाँ संवेगों की नहीं हैं। उनमें मानवीय भावनाओं और विचारों की समृद्धि तो है ही, उनके मूर्त्त-अमूर्त्त कारकों की पहचान भी है। यही कारण है कि उनकी कहानियों का मानवीय सत्य विश्व के भीतर की कारक शक्तियों से स्वतंत्र नहीं है। मानवीय सत्य को ठहरे हुए ढाँचे में क़ैद करने की चेष्टा रेणु ने नहीं की है।

कहानियों में 'टोन' का यह वैविध्य ही उनकी दृष्टि का विस्तार सूचित करता है। दृश्यपट और 'टोन' परस्पर पूरक तत्त्वों की तरह इन कहानियों में प्रकट होते हैं। कोनरॉड ने लिखा है—'वास्तविकता की रोमांटिक अनुभूतियाँ शायद अपने आप में अभिशाप हो सकती हैं, किन्तु जब वे किसी व्यक्तिगत अनुशासन और दायित्व से रेखांकित होती हैं और मानवीय सत्ता के कठोर तथ्यों की पहचान बन जाती हैं, तब समस्त मानव-भावना के सार के रूप में 'विश्व-दृष्टि' बनकर जीवन के अंतरंग को उजागर करने लगती हैं...।' रेणु की कहानियों में वास्तविकता की ऐसी ही रूमानी अनुभूतियाँ और भावनाएँ हैं।

राजेन्द्र यादव ने भी इस तथ्य को इस रूप में प्रकट किया है—'अपनी कहानियों की योजना में उसने बाङ्ला की तरलता और हिन्दी के यथार्थबोध का सुंदरतम मिश्रण किया है।' इसमें बाङ्ला और हिन्दी का दुराग्रह छोड़ दिया जाए तो ऊपर का उद्धरण सार्थक तथा सटीक भी हो जाता है।

वास्तविकता जब मन पर प्रतिक्रिया करती है, तो वह अनुभूतियों में प्रकट होती है, फिर अनुभूतियाँ भावनाओं में अपने को सहेजती हैं। इस प्रकार भाव-संसार का एक रूप बनता है। कहानियों में अभिव्यक्त होनेवाला संसार भावनाओं—व्यापारों के परस्पर-संबंध और विच्छित्ति से भिन्न नहीं हो सकता। कभी-कभी तो ऐन्द्रिजालिक-सी लगनेवाली घटनाएँ भी इससे स्वतंत्र नहीं होतीं। असंभव और प्रायः अतिकाय-सी लगनेवाली घटनाएँ भी वास्तविकता को एक 'दूसरी दृष्टि' से प्रत्यक्ष करती हैं। पर ऐसी जटिल पद्धतियों का, फैण्टेसी-रोमांस आदि का उपयोग रेणु ने कम ही किया है। अधिकांश कहानियों में गंध-परिवेश से मानवीय भाव-व्यापाररत जीवन को ही लेखक ने प्रतिकृत किया है।

रेणु की कहानियों का संसार आंचलिक भी है और शहराती भी है। पर तथाकथित 'आधुनिकता' से भिन्न उनका एक जातीय स्वरूप है। रेणु की कहानियों के पात्र अकेले होकर भी अकेलेपन की नियति से अभिशप्त नहीं हैं। वे अपने अकेलेपन की व्यक्तिगत त्रासदी को भी उस रूप में नहीं देखते, जिस रूप में रेणु के समकालीन कुछ कहानीकारों ने देखा है। यह भिन्नता रेणु की कहानियों को अलग से पहचान देती हैं। पात्र और परिवेश कहानियों में जिस सहजता से घुल-मिल जाते हैं, उससे ऐसा लगता है जैसे कहानीकार ने उन्हें एकात्म्य में देखा है। किसी कथा-प्रक्रिया में उन्हें एक करने की आवश्यकता रेणु को कभी महसूस नहीं होती। यही कारण है कि अपनी तमाम रूमानियत के बावजूद रेणु की कहानियाँ मानवीय संसार की सच्चाइयों को परत-दर-परत खोलती हैं—कभी भीतर से बाहर लाकर और कभी बाहर से भीतर ले जाकर।

जीवन में साधारण भी है और असाधारण भी है। कभी-कभी इनकी भेदक रेखाएँ मिट जाती हैं और तब साधारण में भी असाधारण सहज झलक जाता है जिन्हें हम सामान्यतः भावहीन सत्ताओं की तरह देखते हैं, उनमें भी भावनाएँ उसी तरह हैं, जिस तरह आत्मलीन सत्ताओं में हैं। रेणु आत्मलीनता से पैदा होनेवाली असाधारणता का भ्रम तोड़कर कहानियों की दुनिया में आते हैं। अकेला होना अद्वितीय होना भी है, ऐसा वे नहीं मानते। उनकी कहानियों में अकेलेपन का यह दैवीकरण नहीं मिलेगा। अपने साधारण पात्रों को भी उन्होंने मानवीय सत्ता की संपूर्ण समृद्धि दी है। इस अर्थ में उन्होंने प्रेमचंद की कथा-परंपरा को ही आगे बढ़ाया है।

रेणु की आंचलिकता एकदेशीय तत्त्व नहीं है। वह स्थानीय भी नहीं है। उसमें ग्रामांचलों की समस्त धड़कनें क़ैद हैं। यही कारण है कि रेणु आंचलिक होकर भी स्थानीय नहीं रह जाते। प्रेमचंद से उनकी समीपता का रहस्य इस बात में भी छिपा है। रेणु ने सामाजिक-मानवीय यथार्थ को आंचलिक दिखनेवाली कथाओं में अवश्य बाँधा है, पर यह बंधन एक प्रकार का वैसा ही अनुशासन है, जिसकी ओर कॉनराड ने संकेत किया है। अपनी कथा-प्रक्रिया में रेणु आलोचनात्मक यथार्थवाद की सीमाओं को लाँघते हैं। उनका साहित्य इस अर्थ में सामाजिक यथार्थवादी साहित्य है कि उसमें मात्र 'व्यवस्था' के तात्कालिक अंतर्विरोध का ही आलोचनात्मक चित्रण नहीं है, बल्कि उसमें समस्त जनजीवन के दृष्टिकोण से परिस्थितियों और संबंधों के बदलाव की एक सशक्त भावधारा कार्य करती है। अपनी विचारधारा में शायद वे 'आलोचना' से आगे नहीं बढ़ सके। पर जैसाकि कमलेश्वर ने लक्षित भी किया है, ऐसा अंतर्विरोध बालजाक में भी है और किसी हद तक तॉल्सतोय में भी है। स्वयं प्रेमचंद के प्रारंभिक साहित्य में ऐसे अंतर्विरोध मिल जाएँगे।

कहानियों की अपेक्षा उपन्यासों में यह सामाजिक यथार्थ अधिक व्यापक और परिपक्व है। यदि 'परिप्रेक्ष्य' को ध्यान में रखें और कार्य-व्यापारों की विविधता को ही एकमात्र आधार न बनाएँ, तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि उनकी कहानियों में सामाजिक यथार्थ अपनी आंतरिकता के साथ व्यक्त हुआ है। कहानियों के संदर्भ में इसे हम विस्तार से स्पष्ट करना चाहेंगे।

रेणु की कहानियाँ जहाँ भावनाओं की दुनिया का निरंतर आभास देती है, वही उनमें सामाजिक संदर्भों का तीखा एहसास भी मिलता है। ये समाजिक संदर्भ भावनाओं के भीतर ही रूपाकार ग्रहण करते हैं। इनमें वर्तमान की असंगतियों को लाँघने की एक प्रबल भावना कार्य करती दिखाई पड़ती है। यह भावना किसी अमूर्त्त भविष्य से नहीं जुड़ती, बल्कि भविष्य की एक मूर्त्तिकला संकल्पना से जुड़ती है। वैसे 'समाजवादी' सत्य को रेणु ने अलग से चित्रित करने की चेष्टा नहीं की है। न रेणु ने अपने यथार्थ को जीवन-शून्य मूल्यों (परिकल्पनाओं) की 'यूटोपिया' से पाटा है और न उसे अतीत का 'एपिटाफ़' बनाया है। यही कारण है कि अतीत वर्तमान-भविष्य की एक जीवित निरंतरता इन कहानियों की विशेषता बन जाती है।

इस संदर्भ में कहानियों पर बातचीत का एक गंभीर सिलसिला बनता है। 'नई कहानी' के आंदोलन के साथ जिस बृहत्तर वास्तविकता को लेखकों ने कहानियों का विषय और परिप्रेक्ष्य बनाया, उसमें रेणु का स्थान किसी दूसरे लेखक से कम नहीं है। इस आंदोलन का दुर्भाग्य रहा कि अपनी प्रारंभिक स्थिति में जिस व्यापकता से वह परिचालित हुआ, उससे ही धीरे-धीरे कटता चला गया। 'आधुनिकता' के तथाकथित आग्रह ने उसे अपने ही परिप्रेक्ष्य से भटका दिया। अगर ऐसा न होता तो हिन्दी कहानी निश्चित रूप से समृद्धतर हुई होती। इस भटकाव का परिणाम

यह हुआ कि नई कहानी कुछ लेखकों की गिरफ़्त में आई और उनके ही विश्वासों-धारणाओं को उदाहृत करने की मोहताज हुई। भारतीय जन-जीवन से उसका लगाव कम होता चला गया और उसकी मूल संवेदना अपने ही जीवित इतिहास से कट गई।

रेणु ने भरसक अपनी कहानियों की इससे रक्षा की। व्यक्तिगत चेतना के भीतर कतिपय स्थितियों को सहज स्वीकारते और कुछ दूसरी भावनात्मक विडंबनाओं को नकारते हुए रेणु ने अपनी कहानियों में एक निरंतरता का निर्वाह किया है। यह निर्वाह एक सक्रियता है, एक संघर्ष है। यह महज़ औपचारिकता नहीं है। यह कला के भीतर एक प्रकार का चुनाव भी है। यह चयन इतना आसान नहीं है, आज की स्थिति में तो और भी नहीं। व्यक्तिगत भावना और बाहरी वस्तुगत स्थितियों के तमाम जटिल विरोधों के भीतर कलाकार का यह चुनाव चुनौतियों से भरा हुआ है। रेणु ने इन चुनौतियों को घोषणाओं से अलग-अलग इसे चुपचाप स्वीकार करते रहे, पर इसी चुप्पी में एक सार्थक संकल्प निहित है। यह चुप्पी उनकी आंतरिक दृढ़ता से सार्थक होती है।

जीवन की एक उद्दाम भावना उनकी कहानियों में सर्वत्र दीख पड़ेगी। उदासी के भीतर निरंतर वर्तमान प्राण-शक्ति! यह अक्षय प्राण-शक्ति ही उदासी को सह्य बना देती है। निराशा के भीतर संचरणशील उत्साह धीरे-धीरे स्थायी हो जाता है। कहानियों का यह जीवित सत्य रेणु को अन्य समकालीन लेखकों की रुग्ण मानसिकता से अलग कर देता है। यह रुग्ण मानसिकता अपने भीतर से उस प्राण-शक्ति को बाहर नहीं आने देती, जिसकी घोषणा ऐसे लेखक बार-बार करते हैं। रेणु की कहानियों में जीवन की धड़कन है—बावजूद इसके कि परिस्थितियाँ दम घोंटती हैं। परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए रेणु के पात्रों में एक विचित्रता है—आस्था की। यह आस्था इसलिए चित्रित लगती है कि रेणु के समकालीन कथा-लेखन में यह आस्था दुर्लभ होती गई है।

यह आस्था किसी सरल, बचकाने उत्साह का परिणाम नहीं है। यह आस्था केवल सिद्धांतमूलक भी नहीं है। रेणु की कहानियों के पात्र ऐसे नहीं हैं, जिन्हें अपनी आस्था को सिद्धांत में घोषित करने की पूरी सलाहियत मिली हो। इनकी आस्था जीवन से उत्पन्न होती है। जीवन से जूझते हुए ये पात्र अपनी आस्था का निर्माण करते हैं, उसकी रक्षा करने के संघर्ष में शामिल होते हैं। यही कारण है कि औपचारिक आस्थाओं से रेणु के कथापात्रों की नैसर्गिक-सामाजिक आस्था अलग पड़ जाती है। आस्था की रक्षा की यह लड़ाई कलात्मक सरहदों पर चलती है, चलती रहती है।

उनकी कहानियों पर अलग से विचार करने की आवश्यकता इसलिए भी है कि ये कहानियाँ समकालीन जीवन के अपने पार्श्वों को एक साथ उजागर करती हैं। उनमें विषय-वस्तु की सीमाएँ नहीं हैं। ये ग्रामीण किसानों-मेहनतकशों की

कहानियाँ भी हैं और शहरी मध्यवर्ग की कहानियाँ भी हैं। उनमें हर तरह के पात्र हैं। पात्रों की ऐसी 'टाइपालॉजी' दूसरे लेखकों में कम मिलेगी। अनेक वर्गों के ऐसे स्वलक्षणशील पात्र रेणु के कथा-साहित्य में मिलेंगे, जिनका विस्तार सचमुच ही हमें प्रभावित किए बिना नहीं रहता। इन पात्रों में मिरदंगिया पचकौड़ी है, *तीसरी कसम* का गाड़ीवान हिरामन है, *ठेस* का चटाई बनानेवाला सिरचन है, *लालपान की बेगम* की बिरजू की माँ है, *अच्छे आदमी* का उजागिर है और इनके साथ दूर्वादास भी है, मीताली-गीताली भी हैं। इनके बीच हाराधन है। इस प्रकार पात्रों का अपना व्यक्तित्व भी है, अपना स्वतंत्र लक्षणशीलता और पहचान भी है। ये पात्र अपने जीवन-भोग में अत्यंत सजीव और व्यक्तित्व-संपन्न होकर उभरते हैं।

पात्रों के व्यक्तित्व को केवल आकार की विशेषता के रूप में रेणु ने चित्रित नहीं किया; ये पात्र व्यक्तित्व के प्रकार हैं। इनका भाव-भोग इन्हें आंतरिक आकार-प्रकार और स्वतंत्रता देता है। इनकी स्वलक्षणशीलता इन्हें स्वतंत्र व्यक्ति बनाती है। अवश्य ही ये साधारण होकर भी भीड़ के अनजाने चेहरे नहीं हैं। कहानियों में हर पात्र के साथ रेणु न्याय करते हैं। हर पात्र की सामाजिक जीवन के इतिहास से स्वतंत्र—अपने आप में कोई सिद्ध इकाई नहीं होती। वस्तुतः ऐसे पात्रों की सृष्टि के द्वारा वे जीवन की देश-काल-सापेक्ष स्थितियों का ही संयोजन करते हैं। ये पात्र निरवधि, कालातीत आत्माएँ नहीं हैं। इन्हें अपने देशकाल ने गढ़ा है; ये एक विशेष ऐतिहासिक परिस्थिति में जन्म लेनेवाले पात्र हैं। ये पात्र अपने बाहर की वास्तविकता पर प्रतिक्रिया करते हुए अपना व्यक्तित्व निर्मित करते हैं। इस प्रकार इन पात्रों के साथ देश-काल का यथार्थ साक़ार होता है—संबंधों की दुनिया लक्षित होती है। ये पात्र विचार और भावना की कई धाराओं का उत्सर्जन करते हैं।

रेणु की कहानियों में परिस्थितियाँ मानव जीवन से जुड़कर साकार होती हैं। ऐसा नहीं कि वे केवल कहानीकार की मानसिकता का अंग बनकर रह जाएँ। अक्सर परिस्थितियों को कहानीकार पात्रों के संदर्भ से तोड़कर अलग कर देता है और अपनी भावनाओं के आकार में प्रस्तुत करने लगता है।

आधुनिकतावादी कहानीकारों ने अक्सर अपनी कहानियों में ऐसी परिस्थितियाँ गढ़ ली हैं और उनमें पात्रों को स्थापित कर दिया है। रेणु की कहानियों में परिस्थितियाँ पात्रों की हैं—चाहे वे उनके भीतर हों या बाहर। परिस्थितियों को असंभव मानसिक आकार में गढ़ने की चेष्टा रेणु ने बहुत कम की है। जहाँ ऐसी मानसिक परिस्थितियाँ हैं भी, वहाँ उनकी एक मानवीय वास्तविकता सदा अभिप्रेत है। अवश्य ही परिस्थितियों की मानसिकता से इंकार नहीं किया जा सकता। मानवीय परिस्थितियाँ केवल बाहरी नहीं होतीं। जार्ज लूकाच ने इस संबंध में बहुत विस्तार से लिखते हुए आधुनिकतावादी लेखन और यथार्थवादी लेखन के भीतर परिस्थितियों के स्वरूप का उद्घाटन किया है।

मानसिक स्थितियों का योग भी एक परिस्थिति है, पर इस 'योग' को आत्मसंभव बना देना आधुनिकतावादी करतब है। रेणु ऐसी आत्मसंभव स्थितियों के कहानीकार नहीं हैं। उनकी कहानियों में परिस्थितियाँ हमेशा मूर्त्त होकर व्यक्त होती हैं, अपनी सूक्ष्मताओं के बावजूद। यह दूसरी बात है कि ऐसी परिस्थितियों में उनका मन सहज रोमांस से भी परिचालित होता है और जटिल मनोविज्ञान से भी। रेणु की कहानियों की स्वतंत्र समीक्षा के प्रसंग में यहाँ यह चेष्टा की जाएगी कि इन स्थापनाओं को सोदाहरण प्रमाणित किया जा सके। मानवीय भावना और वस्तुगत परिस्थिति का द्वंद्व आज की स्थिति में जटिल से जटिलतर हो गया है, पर इससे कलात्मक चेतना भी अनिवार्यतः जटिल हो जाए, ऐसा नहीं है। रेणु की कलात्मक चेतना में परिस्थिति की अनावश्यक जटिलता नहीं उत्पन्न होती है।

रेणु की कहानियों में वातावरण अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली तत्त्व है। इसका कारण उनकी कहानियों का जीवन से जुड़ा होना है। वे कार्यरत जीवन के कहानीकार हैं। क्रियाकलापों से भरी हुई उनकी कहानियाँ अपना अलग वातावरण बनाती हैं। कहीं यह वातावरण अत्यंत तनावपूर्ण स्थितियों का है, तो कहीं अत्यंत रसमय स्थितियों का। आंचलिक वातावरण को तो रेणु ने अपूर्व मूर्त्तता प्रदान की है। वातावरण की सजीवता को लेकर राजेन्द्र यादव ठीक ही कहते हैं कि—"वातावरण जीवित पात्र की तरह सामने खड़ा होकर अपना हक़ शायद अकेले रेणु से ही माँगता है।" वातावरण की सजीवता का दूसरा प्रमुख कारण है रेणु की कला की ऐन्द्रियता।

'गंध-परिवेश' से रेणु की इसी कलात्मक विशेषता को रेखांकित करने की चेष्टा की गई है। वातावरण मूर्त्त भी हो सकता है और अमूर्त्त भी। विचार और भाव के प्रवाह का अंग बनकर वह एक प्रवहमान सत्ता की तरह पकड़ के बाहर भी जा सकता है। पर ऐन्द्रिय सत्ता के रूप में वह हमेशा हमारे लिए प्रत्यक्ष होता है। रेणु की कहानियों में जो यह प्रत्यक्षता है, वह वातावरण के मूर्त्त होने के कारण ही है। रेणु वातावरण को संगीत की ध्वनियों, लहरियों से भरकर हमें उदास करते हैं या उद्वेलित; उसे छाया-छवियों में सजीव बनाकर हमें अभिभूत करते हैं या आतंकित; पर वातावरण गोचरता नहीं खोता, स्पर्श से बाहर नहीं जाता। चेतना के भीतर भी उसकी लहरियाँ उठती रहती हैं, स्मृतियों के साथ जुड़ी हुई और घटनाओं के प्रभाव के रूप में। उन्हें आप चाहकर भी कहानी से अलग नहीं कर सकते—चाहे वह *तीसरी कसम* हो या *आदिम रात्रि की महक*। सामाजिक वातावरण की हलचल भरी तस्वीरें भी रेणु की कहानियों में बार-बार प्रकट होती हैं। कुछ कहानियों में वातावरण अत्यंत आतंककारी है। यह आतंक घटना का नहीं है, जड़ता का है जिसे तोड़ने की सतत् चेष्टा में कहानी आकार ग्रहण करती चलती है।

रेणु ने संघनित वातावरण की बेहद नाजुक कहानियाँ भी लिखी हैं। ऐसी कहानियों में रिपोर्ताज़ का तेज़ घटनाक्रम और वातावरण नहीं है। इसके विपरीत

इनमें वातावरण की एकतान संश्लिष्टता है जिसमें पात्र की स्थितियाँ बनती-बिगड़ती हैं। ऐसे वातावरण को 'प्रभाववादी' भी कहा जा सकता है। वैसे लेखक ने मनोवैज्ञानिक अभिप्रायों के प्रयोग के द्वारा उन्हें मात्र प्रभाववादी होने से बचाने की भरसक सफल चेष्टा की है। यह वातावरण प्रभाववादी होने से इसलिए बच जाता है कि उसमें इच्छाओं का मायाजाल उतना नहीं होता, जितना छाया-छवियों के वास्तविक रंगाकार होते हैं। उसका एक आधार कथाकार के दृष्टिकोण की वास्तविकता में होता है। स्वप्नों और कल्पनाओं के आकार से वातावरण को भरने की चेष्टा रेणु कम करते हैं। वातावरण के अंतरंग तत्त्वों के कारण भी उसमें कल्पना का प्रयोग अधिक अपेक्षित नहीं रहता। ऐसे वातावरण को रूप-भाव से समृद्ध करने की कला रेणु को खूब आती है।

रेणु की कहानियों में वातावरण गतिशील रहता है। गतियाँ उसे असाधारण रूप में जीवंत और वास्तविक बना देती हैं। तद्दृश्यता में ऐसे वातावरण अनुपम हैं। गतियाँ बाहरी आकारों-तथ्यों की भी होती हैं और मानसिकता की भी। रेणु इन्हें एक रासायनिक योग से संयुक्त करते हैं और फिर अंतर्क्रियाओं से उसमें चालन पैदा कर देते हैं। यही कारण है कि उनकी कहानियों में वातावरण प्रायः ठोस और मूर्त्त हैं।

दैनंदिन जीवन के छोटे-छोटे ब्यौरों से वातावरण को गढ़ने की कला कोई रेणु से सीखे। इस दिशा में उन्हें महारत हासिल है। अपने ब्यौरों को जब वे नाटकीय तफ़सील देने लगते हैं, तो सहजता धारदार होती चलती है। भावात्मक और नाटकीय दोनों प्रकार के वातावरण रेणु की कहानियों में समान कलात्मक सफलता के साथ संयोजित मिलते हैं। इसका कारण रेणु का प्रत्यक्षीकरण है। रेणु जैसे अपनी दो आँखों के अलावा मन की आँख भी खुली रखते हैं। वस्तुगत तथ्यों का मानसिक प्रत्यक्षीकरण करते हुए भी वे इसका आभास नहीं देते। जीवन का प्रत्यक्ष वातावरण कहानियों में उतर आता है।

कहीं-कहीं वातावरण उनके पात्रों की आँखों में साकार होता है, कहीं उनकी मुद्रा में और कहीं उनके सार्थक-निरर्थक कार्य-व्यापारों में। उदाहरण के लिए हाराधन अपने आप में जैसे एक पूर्ण वातावरण भी समेटे रहता है। उसका अपना एक अलग वातावरण है, जिसे वह दूसरों के प्रभाव से सदा बचाकर रखता है। अपने सम्मोहन से वह उसकी रक्षा करता है। यह सम्मोहन उसी साधना में, तन्मयता में है। उसके संलाप में एक वातावरण है—आततायी, फिर भी सम्मोहक! जैसे, वह मादा चीतल की आवाज़ निकालकर पाठकों को सम्मोहित कर देता है। उसका एक आर्त्तनाद जैसे साकार होने लगता है। इस आर्त्तनाद में कलाकार की पीड़ा की न जाने कितनी परतें उघड़ती हैं। उन सभी परतों के भीतर ही तो हाराधन क़ैद है। यह वातावरण की एक अन्य संगति है। इसी प्रकार रेणु की कहानियों में वातावरण की बाहरी-भीतरी संगतियाँ मिलेंगी। इस वातावरण को इन पात्रों के साथ ही

ठीक-ठीक आयत्त कर पाना संभव है, अन्यथा आप उसे नाटकीयता के अतिरिक्त और कोई अर्थ नहीं दे पाएँगे।

रेणु अपनी कहानियों के वातावरण को बड़ी सावधानी से, पर अत्यंत सहजता के साथ संयोजित करते हैं। रंग-रेखाओं में उभारते हैं। उनका व्यक्त-अव्यक्त अर्थ हर दबाव के साथ प्रकट होता है। वातावरण की संघटना नई कहानियों में अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है। प्रायः रेणु के समकालीन लेखकों ने वातावरण को कलात्मक संश्लिष्टता दी है, उसे कहानी के बाहरी तत्त्व से भिन्न अंतरंग बनाया है। पर रेणु में उसकी छविमयता और सघनता की अपनी विशेषताएँ हैं। यही कारण है कि रेणु को अक्सर आंचलिक कहकर इस पूरे आंदोलन के बदलावों से अलग भी रखने के प्रयास भी हुए हैं। इस बहस में पड़े बग़ैर कि रेणु वातावरण से ही आंचलिक रोमांसों के कहानीकार हैं या नहीं, मैं यहाँ सिर्फ़ इतना कहना चाहूँगा कि अन्य लेखकों की तुलना में रेणु का 'वातावरण' अपेक्षाकृत अधिक संवेद्य, सहज और स्पर्शयुक्त है। प्रतीक स्थितियों और अन्यापदेश के प्रयोग के बिना भी उनकी कहानियों के वातावरण को पहचाना जा सकता है। अपने वातावरण को कथा के 'रूपक' के लिए प्रयोग में लाने के उदाहरण इन कहानियों में कम ही मिलेंगे।

बिम्बों-दृश्यों का प्रयोग मानस-प्रदेश की स्थितियों को साकार करते हुए भी रेणु ने उन्हें अप्रस्तुतों की तरह कहानियों में नहीं रखा। ऐसे सारे उपादान कहानी में सीधे और बिना किसी परोक्ष अर्थ-संकेत के मोहताज़ हुए आते हैं। वातावरण का प्रयोग घटनाओं का पूर्वाभास देने के लिए भी रेणु ने किया है, पर रहस्यमय बनाकर नहीं। रेणु की कहानियों का वातावरण रहस्यहीन और प्रत्यक्ष होता है। जहाँ रहस्य की छायाएँ रहती भी हैं, वहाँ उन्हें मानव-स्वभाव के साथ एक कर लेना रेणु को आता है। इस प्रकार रेणु की कहानियों का परिचित वातावरण भी हमें थकाता नहीं है, बार-बार नए कार्यकलापों, निष्कर्षों और परिणामों से जुड़ा होकर हमें ताज़ादम बनाता है।

रेणु की कहानियों का वातावरण ध्वनि-संकुलन ही नहीं, व्यापाररत और कार्यसंकुल भी है। जीवन-व्यापारों के साथ जुड़ा हुआ यह वातावरण परिचय की अपेक्षा नहीं रखता। इतना परिचित होकर भी जैसे रेणु की कहानियों में वह पहली बार अपनी संपूर्णता में खुलता है। कैसी प्रभावशाली होती है यह विवृति! वह खुलकर हमें झकझोरती है, अपने आपसे बाहर निकालकर कहानी के देश में—पात्रों की दुनिया में—ले जाती है। रेणु के वातावरण का आकर्षण दुर्निवार होता है, इसे मानने में हमें किसी प्रकार की कोई कठिनाई नहीं होती।

वातावरण की भूमिका यहीं समाप्त नहीं होती—वह पात्र के भौतिक और मानसिक परिवेश से बड़ी हो जाती है, अक्सर! मसलन *तीसरी कसम* में वातावरण हिरामन के परिवेश और मानसिकता से बड़ा है, उसमें मानवीय अंतरंग की छाया-छवियाँ हैं—प्यार की, पश्चात्ताप की, व्यर्थता की और कहीं उससे भी बड़ी!

कहानी समाप्त करके इस वातावरण के साथ होना पाठक के लिए और भी सुखद अनुभव होता है। टीस से भरी एक सम्मोहक स्थिति हमें अपने भीतर खींचती है। संवेदनाओं के आकार फिर भी बाहरी दुनिया के होते हैं, पर भावनाएँ हमारे भीतर की होती हैं। अपने आप में सिमटकर भी हम बाहर की दुनिया से अलग नहीं हो पाते। इस प्रकार एक सेतु बनता है। वातावरण ही सेतु बन जाता है। इस सेतु के बिना रेणु की दुनिया में पहुँचना क्या संभव है!

रचनाधर्मी कहानियों की अलग से कोई पहचान बनाई जा सकती है, यह मैं नहीं मानता। संश्लिष्टता ही रचनाधर्म है। रेणु की कहानियों की यह संश्लिष्टता ही हमें उनके रचनाधर्मी स्वरूप के आमने-सामने लाकर खड़ी करती है। रेणु इसके लिए कलात्मक निपुणता की कोई तकनीक नहीं तैयार करते। यह संश्लिष्टता जैसे उन्हें अपनी कहानियों की दुनिया से ही उपलब्ध हो जाती है। उसमें कुछ बाहर से जोड़ना आवश्यक नहीं रह जाता। यह प्रवाह की निरंतरता जैसी संश्लिष्टता है। उसे रचना के आग्रह से काटना-छाँटना भी आवश्यक नहीं है। इस प्रवाह की पूर्णता अलग से पहचानी जा सकती है क्या?

नई रचनाशीलता और क़िस्सागोई को लेकर नई कहानियों के रचनाकार कुछ घोषणाएँ कर रहे थे। इनमें एक ऐसी ही घोषणा राजेन्द्र यादव की थी। उन्होंने लिखा—'परंपरावादी क़िस्सागोई सिर्फ़ कहानी कहने की शैली ही नहीं, विषय के क्षेत्र में भी कुछ रूढ़ियों से बँधी थी और नया यथार्थबोध विषय और शैली दोनों की रूढ़ियों से हटकर—अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व माँग रहा था।'[...]

रेणु को ऐसी बाधाएँ नहीं दिखीं। उनकी कहानियों में क़िस्सागोई से अंतर्विरोध सबसे कम मिलेगा। रेणु एक स्वाभाविक क़िस्सागो हैं। तब क्या हम यह मानें कि उनमें यथार्थ का बोध नहीं है? क्या समकालीन यथार्थ इतना जटिल, खंड-खंड और उलझा हुआ है कि उसके लिए अतिरिक्त रचनाधर्मी संश्लिष्टता की माँग की जाए। क्या ग़ज़ब है कि राजेन्द्र यादव और नामवर सिंह दोनों ही इस मुक़ाम पर अनजाने एक हो जाते हैं।

रेणु ने क़िस्सागोई नहीं छोड़ी, कथा के रस के साथ कोई वंचनापूर्ण खेल नहीं खेला। फिर भी उनकी कहानियों में समकालीन भारत-बृहत्तर भारत से साक्षात्कार के अनेक रूप-रूपांतर हैं। रेणु को अपनी रचनाधर्मिता के लिए सभी शैलियाँ रचनात्मक दिखाई पड़ती हैं—कथावाचन की शैली में। कथावाचन में कोई नया वाचक तत्त्व नहीं है। 'आख्यायिकाओं' से ही हम इससे जुड़े हैं। आत्मकथात्मक नाटकीय शैली को इस प्रकार स्वतंत्र देखने का कोई ठोस आधार नहीं है। दुराग्रह अलग चीज़ है।

रेणु की रचनाधर्मिता का स्रोत जीवन-बोध में है। जीवन को अंतर्विरोधों के बीच जिया है रेणु ने और उसके उतार-चढ़ावों के बीच अपने बोध को स्थिर भी किया है। इसलिए रेणु का यथार्थबोध किसी भी दूसरे समकालीन कहानीकार से ज़्यादा गहरा, विविध और पूर्ण है। अपने अनुभव के संसार में अनेक भटकनें भी झेली हैं उन्होंने। 'क्रांति' उनके लिए शब्द-मात्र नहीं रही है। उन्होंने राजशाही के विरुद्ध जनता की सच्ची क्रांति में हिस्सा लिया है। इसलिए विचार, भावना और रचनाशीलता में रेणु को यथार्थ-बोध का लेखक मानना ही पड़ता है। अवश्य ही उनका यथार्थ-बोध किसी ख़ास वर्ग या विश्व-दृष्टि से या तथाकथित आधुनिकता-बोध से सीमित नहीं है। समकालीन बृहत्तर यथार्थ के अर्थ को लेकर उपन्यासों के संदर्भ में विस्तार से लिखा गया है। उसे यहाँ दुहराना क़तई ग़ैर-ज़रूरी है।

रेणु का रचनाधर्म सामान्य, साधारण किन्तु बृहत्तर जीवन की वास्तविकताओं से निर्धारित होता है। कहानियाँ भी इसका अपवाद नहीं हैं। उनमें अतिकाय कल्पनाओं के लिए विशेष गुंजाइश नहीं है। रेणु की कहानियों में कल्पना केवल इच्छाओं का संसार नहीं रचती, वह वास्तविकता को और संघनित करती है। अपने बोध से रेणु कल्पना को अनुशासित करते हैं। यह रेणु की रचनाधर्मी कल्पना की ख़ासियत मानी जाएगी। रेणु में कल्पना भी यथार्थ से अनुशासित होती है। कल्पना को इच्छासृष्टि की तरह रेणु ने कभी नहीं देखा। उनकी कल्पना बोध को ही प्रतिकृत करती है, छोटे-से-छोटे ब्यौरों में साकार करती है। स्वप्नजीवी कल्पना से रेणु का कोई रिश्ता नहीं है। रेणु के सपने भी जीवन की तथ्यबद्धता से निश्चित होते हैं।

इस प्रकार प्रेमचंद की धारा रेणु के कथा-साहित्य में विकसित होती है, इसकी संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता। पर मृत्यु ने एक रचनाधर्मी लेखक की अमित संभावनाओं को बीच से काट दिया। यह हिन्दी कथा-साहित्य के लिए दुर्भाग्य ही माना जाएगा।

कहानियों का रचना-संसार

हिन्दी में कहानियों को लेकर अब तक जितनी सार्थक-निरर्थक बहसें चली हैं, शायद ही भारतीय भाषाओं में उतनी कहीं और हुई होंगी। इनकी तुलना में लेखन और समीक्षा के क्षेत्र में उपन्यास उपेक्षित जैसा दिखाई पड़ता है। इससे पैदा होनेवाले अंतर्विरोध की ओर हमारी दृष्टि सहज ही जाती है। रेणु जैसे सफल उपन्यासकार और कहानीकार में भी यह अंतर्विरोध धीरे-धीरे प्रकट होता हुआ दिखाई पड़ेगा। अवश्य ही दूसरे लेखकों की तुलना में वह रेणु से कम है। समकालीन कथा-साहित्य के इस तीखे अंतर्विरोध के कतिपय कारणों पर इस बहस से, प्रकाश पड़ने की संभावनाएँ हैं।

दुमरी से *अगिनखोर* तक के लंबे किन्तु निरंतर विकास-क्रम में कहानियों का 'टोन' बदल जाता है। इसे लक्षित करने में किसी भी सचेत पाठक को कठिनाई नहीं होती। रेणु कहानियों का यथार्थ-बोध लेकर उपन्यास लिखनेवाले लेखक नहीं हैं। यही कारण है कि उनकी अधिकांश कहानियों का ढाँचा अन्य लेखकों से भिन्न है। उनके इस ढाँचे की नक़ल तो हुई, पर रेणु का व्यापक-संश्लिष्ट यथार्थ-बोध ऐसी कहानियों में उभरने से रह गया। व्यावहारिक समीक्षा के लिए हमें कुछ कहानियों का चुनाव करना पड़ेगा।

दुमरी की तमाम कहानियाँ किसी क्लासिकल या कालजयी रचना के बजाए लोक जीवन की स्वच्छंदता और लोच प्रकट करती हैं। बदलते हुए जीवन के संदर्भ में इन दो अत्यंत भिन्न कारक तत्त्वों की अवहेलना करके हम कहानियों की आलोचना में कुछ नहीं जोड़ पाए हैं, पर धीरे-धीरे *अगिनखोर* तक आकर यह स्वच्छंदता और लय बदलकर तनाव में प्रकट होती है। बदलती हुई ज़िन्दगी का इससे अच्छा दूसरा उदाहरण हमें अन्यत्र कम मिल पाएगा। प्रेमचंद के बाद रेणु अकेले लेखक हैं, जिनमें कथा-रस भी है और बदलते हुए यथार्थ से उत्पन्न तनाव की नाटकीयता भी है।

दुमरी संग्रह की पहली ही कहानी 'रसप्रिया' में ये दोनों तत्त्व अपने सम पर प्रकट होते हैं। 'रसप्रिया' एक व्यक्ति की अंतर्कथा मात्र नहीं है, वह एक पूरे समुदाय की संस्था का अंत है। 'मिरदंगिया' एक व्यक्ति और एक संस्था है। 'तुम्हारी उँगली ...ा रसपिरिया बजाते हुए टेढ़ी हुई है न?' और इस प्रश्न के साथ उसका पूरा अतीत ...कर खड़ा हो जाता है। यही जीता-जागता तनाव पूरी कहानी में व्याप्त है। मोहना ने इस प्रश्न से उसकी दुखती हुई रग को पकड़ लिया है। उसका जी करता है कि वह कहे 'हाँ बेटा'। पर संबोधन जीभ तक नहीं आता, गले में ही अटक जाता है। 'बहरदार' होकर बाभन के बेटे को वह बेटा कहेगा! परमानपुर की वह घटना! मगर वह घटना नहीं थी, महज संकेत था, वर्ण-जाति की कठोरता से उत्पन्न संकेत। मोहना बाभन का बेटा नहीं है, पर यह 'अपरूप रूप' तो उसी वर्ण का भ्रम पैदा करता है। मन छाया को छूने से भी तो डरता है! यह तनावपूर्ण स्थिति किसी गुज़रे वक़्त की नहीं है। वह तो आज की भी है। वर्तमान पर पड़ती अतीत की प्रेत-छाया!

सामाजिक अंतर्विरोध तीखे हो रहे हैं और इसका अहसास उस अधपगले मिरदंगिया पँचकौड़ी को भी है। एक कलाकार की पीड़ा संपूर्ण सामाजिक अस्तित्व की पीड़ा में बदलने लगती है। वैसे कमलपुर के ज़मींदार घराने के 'नंद बाबू' अब भी उससे चार मीठी बातें कर लेते हैं। सचमुच पागल होने से बचने के लिए इतनी सद्भावना कम नहीं है। पँचकौड़ी को लगता है कि उसका अपना अस्तित्व ही सप्रश्न होकर पूछता है—'तुम जी रहे हो या थेथरई कर रहे हो?' अमरकांत के बरई चरित्र की याद ताज़ा हो जाती है। अजीब साम्य है इन दो चरित्रों में, पर उतना ही कठोर उनका अलगाव भी है। गाँव का मिरदंगिया व्यर्थ होकर भी सामाजिक हाशिए पर जी लेगा, पर शहरी भिखमंगे का क्या होगा? उसके पास सामाजिक अस्तित्व का यह संभ्रम कहाँ से आएगा? मिरदंगिया कलाकार होने के साथ-साथ 'गुनी' है। मोहना के पेट का दर्द वह ठीक कर देगा, पर मोहना भीख का अन्न नहीं खाएगा। किसान की औलाद भीख का नहीं खाएगी... *पूस की रात* के उस किसान नायक का संस्कार भी तो ऐसा ही है! वह सहना की गालियाँ न सहेगा, चाहे मज़दूरी कर लेगा।

लोक-गायक की व्यर्थता किसी पिछड़ गए समाज की व्यर्थता भी क्या? और *ठेस* कहानी का वह ग्राम-शिल्पी! मिरदंगिया और उसकी नियति एक है। दोनों ही एक गुज़रती हुई दुनिया के लोग हैं। नई दुनिया की नई कला है, नई संस्कृति है। उसका बदला हुआ शिल्प-संसार है। सामुदायिक संस्कृति के इस विध्वंस की पीड़ा को मूर्त्त करती ये दो कहानियाँ रेणु के भाव-संसार की जीवित प्रतिकृतियाँ हैं। परिवर्तन बलात् हो रहा है, स्वाभाविक नहीं। यह परिवर्तन ग्राम-समाज पर लादा गया है। उसकी अपनी अपेक्षाओं को नज़रअंदाज़ करते हुए। इस परिवर्तन की दिशाहीनता को *ठेस* का नायक अपने ढंग से परिभाषित करता है—अपने जीवित अनुभवों के संदर्भ में और अपनी दुनिया के आसपास की वास्तविकता की ऐंठन के रूप में। इस ऐंठन भरी वास्तविकता को रेणु और नहीं तानते, उसे अपनी जगह छोड़ देते हैं और एक गहरी सप्रश्नता साथ लगा देते हैं।

पर, इस बदलती हुई दुनिया पर रेणु की नज़र बनी रहती है। सामाजिकता वास्तविकता को नए अंतर्विरोधों के भीतर रखकर देखना रेणु की कथात्मक चेष्टाओं की प्रकृति है। इस विशेषता पर प्रकाश डालने के लिए रेणु का जनवादीकरण आवश्यक न माना जाएगा। 'लाल पान की बेगम' में बदलते हुए ग्राम-संबंधों की 'बुर्जुआनिंग' का एक तीखा अहसास है। ज़मीन की बंदोबस्ती ने कुछ ग़रीब कृषिदासों को स्वतंत्र किसान की हैसियत दी है। इस हैसियत का प्रदर्शन चाहे विडंबना हो, पर कहीं-न-कहीं वह वर्ग-प्रभाव का एक अनिवार्य हिस्सा भी है।

गाँव की ज़िन्दगी में स्त्रियों के लिए सामाजिक प्रदर्शन का एक ही मंच होता है—मेला। इस मंच के साथ रेणु ने एक कथा जोड़ी है, सामाजिक उत्सरण की कथा। 'कुंभ के मेले में छोटी बहू' (बंग महिला) से अब तक इन मेलों पर अनेक काल-कथाएँ लिखी गई हैं। बिरजू की माँ ने पाँच बीघे ज़मीन का पर्चा पाया है। चार मन पाट के पैसे ने उसकी इच्छाओं की दुनिया को भीतर से बदल दिया है। अगर जंगी की बहू को यह सब अखरता है तो अखरे! बिरजू का बाप अब मजूर नहीं है कि लोग उसकी छोटी-सी इच्छा पर हँसे। वह बैलगाड़ी पर बैठकर बलरामपुर का नाच देखने जाएगी।

जंगी की पतोहू उसे नया नाम दे गई है—लालपान की बेगम। इस व्यंग्य ने बिरजू की माँ को आहत किया है। इसी तिक्तता के कारण बिरजू पिटा है, चंपिया पिटी है। पर चलो, चंपिया की माँ के आँगन में नालवाले जूते की छाप घोड़े की टाप की तरह बजेगी! लोग सुने और जलें! गाड़ी आते ही तिक्तता धुल जाती है और मन नई उमंग से भर जाता है। उसका ध्यान अचानक मेले की तैयारी की ओर चला जाता है। *बिलेक* में बिरजू पाँच शकरकंद सोए-सोए खा जाता है! मन का सारा अवसाद समाप्त हो जाता है। बिरजू की माँ मखनी फुआ को आवाज़ देती है और जंगी की बहू को भी पुकारना नहीं भूलती। 'लालपान की बेगम' का साधारण कथ्य अपनी संवेदनशीलता में असाधारण हो उठता है।

'अच्छे लोग' में संपत्ति के साथ अधिकार के सामाजिक रिश्ते का संदर्भ है। यह कहानी 'लालपान की बेगम' की अगली कड़ी है। उजागिर संपत्ति के साथ अपने अधिकार की घोषणा करके पुरुषार्थ की रक्षा करता है। घर बसाने के लिए उसे कितने पापड़ बेलने पड़े हैं। अपनी सीता को पाने के लिए क्या नहीं किया है उसने! सीता और संपत्ति—जोरू और ज़र का सनातन रिश्ता! और जोरू की कहानी अपने मनोविज्ञान में कोई नयापन नहीं पैदा करती, पर तनाव तो प्रकट करती है।

उजागिर का 'घर' ग़ैर-सरकारी बस पड़ाव से बेहतर नहीं है। सीता को जैसे इस भीड़ भरी दुनिया में पुरुषों के प्रति खुला और निःसहाय छोड़ दिया गया है। संपत्ति की यह साधारण-सहज व्यवस्था अगर सीता को झेलनी है तो फिर वह अपनी इच्छा के पुरुष क्यों न चुने? धंधा करनेवाला पुरुष यदि समझौता कर सकता है, तो स्त्री के लिए तो वह एक नियति भर है। उजागिर ने धंधे से अलग घरनी की

हैसियत उसे कब दी! इसलिए अगर चार बबुआन को वह हँस-बोलकर खुश रहती है, तो इसके अतिरिक्त चारा भी क्या है? जब पहली बार उजागिर के मन में यह अधिकार जगता है तब सीता को भी ऐसा लगता है कि वह अपने पुरुष के साथ है, घरनी है।

अर्थतंत्र की भावनाहीन दुनिया से सीता-उजागिर की वापसी नाटकीय सूक्ति चाहे हो, पर वह हमें छूती है। क़स्बे की ज़िन्दगी और परिवेश की नाटकीय सजीवता से चित्रित करते हुए रेणु भावनाओं के अंतराल में आगे बढ़ जाते हैं। संपत्ति की लालसा से भी नैसर्गिक अधिकार बड़ा है। ग़रीब को अधिकारहीन संपत्ति की विडंबना ही मिलती है। उजागिर को ऐसी संपत्ति नहीं चाहिए। शायद इसी क्षण की प्रतीक्षा सीता को भी थी। इस नैसर्गिक अधिकार के उत्तेजक क्षण में उनकी आंतरिक लालसा एक हो गई है। अपनी बेमतलब ज़िन्दगी में पहली बार उन्हें एक अंतरंग अर्थ प्राप्त हुआ है। 'अच्छे लोगों' से बचाव इसी अर्थ का एक गहरा संकेत है।

'तीसरी कसम…' नाटक, कहानी, गद्य! जीवन का संगीत जैसे एक घटनाक्रम में प्रवाहित होता रहता है। थके हुए मन का गीत। यह संगीत अकारण नहीं फूटता, एक वाचक विषय के संयोग के साथ जन्म लेता है। हिरामन की यह कहानी आत्मनिषेध के उदास क्षणों के भीतर गहरे उल्लासपूर्ण सहवास का एक ताना-बाना बुनती है। यह एक ऐसी रागदीप्ति की कहानी है, जिसमें जीवन की बहुत-सी प्रताड़नाएँ धुल जाती हैं। 'तीसरी क़सम' का प्रतिबंध भी इस मनोराग को तोड़ नहीं पाता।

कहानी में अगर मानसिक वातावरण की केवल नाटकीयता होती, तो शायद वह बोझिल हो जाती, पर यह मानसिक वातावरण अपने सहज आसंगों के कारण ही सजीव हो गया है। निर्मल की कहानियों की तरह उसमें कहीं कोई प्रतीकात्मक उलझन नहीं होती—भीतरी वातावरण का रहस्यमय ताना बाना नहीं होता। अपनी छविमयता, नाटकीयता और उदास प्रभावशीलता की दृष्टि से यह रेणु की विशिष्ट और प्रतिनिधि कहानी है।

अपनी अज्ञानता और सहयोगी की सरलता से प्रताड़ित हिरामन तीसरी बार खुद से प्रतिबंध स्वीकार कर लेता है। तीसरी क़सम पहली दो क़समों से सर्वथा भिन्न परिस्थितियों में खाई गई है।

पहली क़सम का संदर्भ खतरनाक है। नेपाल ले जाते हुए अनाज पर पुलिस की छापामारी! हिरामन बैलों को खोलकर भगा ले जाता है—'चलो भैयन/जान बचेगी तो ऐसी-ऐसी सग्गड़ गाड़ी बहुत मिलेगी…एक दो तीन! नौ दो ग्यारह!!' और दूसरी क़सम का प्रसंग भी कम रोचक नहीं है। लड़की स्कूल के पास अगुआरे की ग़लती से बाँस की लदनीवाली बैलगाड़ी का बेक़ाबू होना इस संकल्प की पटभूमि पर है। हिरामन को इस दुर्घटना की याद से कँपकँपी आ जाती है। यह अबकी बार सर्कस की बाघगाड़ी ढोकर गाड़ी बनवाई है हिरामन ने। बैलगाड़ीवाले

तैयार न होते थे सो हिरामन ने अपने बैलों को समझाया—'देखो भैयन! ऐसा मौका फिर हाथ नहीं आएगा। अरे! पिंजरे के बाघ का क्या डर? भाव की भाषा जानवर भी समझते हैं।'

मेला गाँव की दुनिया का एक सार्वजनिक मंच। नौटंकी इसी मेले का अंग है। इसी मेले में मन का मीत पाकर हिरामन सबकुछ खो बैठता है। इस मीत के साथ तो वह और भी अकेला हो गया है। मन को प्रतिबंधक विश्वासों से बार-बार समझने की चेष्टा की है हिरामन ने—कंपनी की औरत कंपनी में गई। अब उससे क्या लेना-देना! पर इस पराए का सुख परकीय का सुख नहीं है।

गाँव की यात्रा-कथा की तरह कहानी चलती रहती है, चाँदनी में, धूप में। खुली पगडंडियों जैसी लीक पर, सड़क पर। इस यात्रा में रस है। कथा का रस भी और भोगने का रस भी। यह परीकथा नहीं है, सचमुच हिरामन की गाड़ी में उसकी मीता है। पीठ में उभरनेवाली गंध इस घटना के साथ उसके संपूर्ण अस्तित्व को घेर लेती है। इस्स कटहली चंपा···!

यह इन्द्रिय-बोध उसके विश्वबोध का भी हिस्सा है। हिरामन का विश्वबोध क़िताबी नहीं है, वह तीसरी दुनिया के तमाम-तमाम निरक्षरों में एक है। मगर आखर तो ध्वनि में भी है, गंध और स्पर्श में भी है। मन की भाषा तो इन सबमें साथ-साथ प्रकट होती है। यह पूरी यात्रा एक गंध-स्वर-स्पर्श-संधान ही तो है!! मीता के साथ यह यात्रा अदृश्य स्पर्श की आत्मीयता को जैसे मानस-गोचर कर देती है। 'पराया सुख' तो नहीं है यह! आशंका से मन उद्विग्न हो उठता है। कितना एकांत है इसमें! हिरामन इसे अपने भीतर क़ैद करने की उत्कटता में अगर स्वयं व्यर्थ भी हो जाए, तब भी यह सुख अखंड रहेगा। हिरामन की इस भावुक समझ में आत्मदया नहीं है।

अपनी भावना के एकांत में हिरामन अपनी मीता को दुनिया से छीन लेता है। एक विधुर मन का अवसाद इस आत्मीयता के कारण धुल-बह गया है। दीप्ति में अवसाद भी सहज और वरेण्य हो जाता है और इस रागदीप्त गीत के साथ दृश्यों का एक प्रवाह कहानी को बाहर ले आता है—मेले की दुनिया, नौटंकी की दुनिया में! गाँव के समाज का गाड़ीवान फिर अपनी दुनिया में लौट आता है। लाल मोहर, पलटदास और धुन्नी राम के साथ फिर परिदृश्य बदलता है। अब आत्मालाप की भाषा कचहरी की बोली में बदल जाती है—'बेकार मेला बाज़ार में हुज्जत मत कीजिए।' मेले की दुनिया में हिरामन अपनी मीता से मेले की भाषा में बोलेगा क्या?

उसकी मीता में बाज़ारूपन नहीं हो सकता। यह कल्पना भी हिरामन नहीं करता। मगर अपनी मीता को भी तो उसे सौदागर से छुड़ाना पड़ेगा। महुआ घटवारिन को भी सौदागर ने ख़रीद लिया है। कहानी ख़त्म। बैसकोप हज़म!! बाज़ार ने आदमी को ख़रीद लिया है, आवश्यकतानुसार! मर्द गुलाम-श्रमिक-औरतें बाज़ार की वस्तु! समय के दबाव के ये प्रभावकर चित्र हैं।

'तीसरी क़सम' का रोमांस एक गहरे अर्थ की प्रतीति से हमें जोड़ता है। कठोर विचारधारा की गिरफ़्त में आकर जो लोग लोक-जीवन के रोमांस को नकारते हैं, उन्हें यह कहानी बहुत कुछ मुक्त कर सकती है। प्रगीत और नाटकीयता का यह संयोग कहानी को एक अलग ज़मीन देता है। नई कहानी आंदोलन के भीतर व्यतीत हो गए अतीत की अनेक छाया-छवियाँ बड़ी मार्मिकता से अभिव्यक्त होती हैं। रेणु के कथात्मक संदर्भ में यह कलात्मक पहचान और भी उजागर हो जाती है। रिपोर्ताज से लेकर उपन्यासों तक में रेणु ने अपनी यह पहचान बनाई है। रेणु की कथाशक्ति के स्रोतों के रूप में इन्हें पहचानना होगा।

आदिम रात्रि की महक की संकलित कहानियों में एक और परिपार्श्व प्रकट होता है। यह अपेक्षाकृत मानसिक रंग-रेखाओं का संसार है, जिसे भावनाएँ निर्धारित करती हैं। इन कहानियों का अपना परिवेश और अपना आस्वाद है। यह दुनिया हिरामन की नहीं, हाराधन की दुनिया है—एक कलाकार की दुनिया, जिसमें अनुभवों की एक जटिल व्यवस्था मिल जाएगी। 'टेबुल', 'तीन बिन्दियाँ', 'आदिम रात्रि की महक', 'आत्मसाक्षी' आदि कहानियाँ रेणु की सामान्य कहानियों से अलग-थलग दीख पड़ती हैं।

अनेक जटिल अभिप्रायों से बननेवाली ये कहानियाँ कहीं 'फेटिश' का आभास देती हैं, कहीं कलाकार के जीवन की आंतरिक लय के टूटने की व्यथा प्रकट करती हैं और कहीं जीवन के अँधेरे के बीच फैली आदिम गंध का विस्तार दिखाती हैं। भीतरी प्रदेश के मानवीय आकारों को यहाँ रेणु एक वातावरण में बदल देते हैं। 'टेबुल' शीर्षक कहानी एक ऐसी स्त्री की कहानी है, जो अपने परिवेश में आक्रांत अपनी दुनिया में सीमित हो गई है। कार्यकारी जीवन में यातनाएँ हैं—अनेक नंगी दृष्टियों की यातनाएँ, जो निरंतर उसे उघाड़ती रहती हैं, उसकी परतें उतारती रहती हैं। जीभ की खुजली है, जो उनके हर कार्यकलाप को क़िस्सा बना देती है। आकर्षण और उपेक्षाओं की दुहरी मार से दबी हैं मिस दूर्वादास।

लोग उसके बारे में रायें रखते हैं, अजीब-अजीब रायें। वह उनसे अपरिचित नहीं है और इन तमाम नज़रों से अपने को बचाकर दूर्वा (दुर्वा?) दास ने उस 'फेटिश' से अपना कवच तैयार किया है, जो निर्जीव होकर भी उसके पूरे अस्तित्व और आत्मसंघर्ष का साक्षी है। यह टेबुल नहीं, दूर्वा का कवच है, उसका घर है, उसका अंतरंग संगी है। वही उसका एकमात्र संगी है। लंबे कार्यकारी जीवन में उसे अपवाद के अतिरिक्त कहीं कोई आत्मीयता न मिली। एक के बाद एक उन्नति की सीढ़ियाँ चढ़ती हुई भी दूर्वा को अपनी जगह से प्रेम है, अंतरंग लगाव है। नए परिवेश में आकर जैसे वह अपने ही अतीत से कटी जा रही है। नहीं, वह इस नए चैम्बर में अपना पुराना टेबुल ही रखेगी। अतीत का यह आसंग वह नहीं छोड़ सकती। मैनेजर को आश्चर्य होता है। वह दूर्वा की इस सनक को अपने किसी मनोवैज्ञानिक

ज्ञान से नहीं जोड़ पाता और दूर्वा को लगता है, नई टेबुल के पास बैठकर जैसे वह किसी पराए के सामने बठी हो। असंभव···

नया बड़ा बाबू अनुरंजन उसका परिचित है। दोनों ने साथ-साथ ट्रेनिंग की है। उस क्रम में वे पास-पास भी आए हैं—सहज भाव से, मित्र भाव से, पर नहीं, अपना कवच वह नहीं छोड़ सकती। अनुरंजन को आश्चर्य होता है, पर अकेली स्त्री के मनोविज्ञान से वह थोड़ा परिचित है। दूर्वा अतीत के सारे स्पर्श को पोंछकर अलग कर देगी, पर अपना कवच नहीं छोड़ेगी। लोग क्या जानें कि मनुष्य के दर्द से भी बड़ा घर का दर्द क्यों होता है?

दूर्वा के चरित्र पर कोई उँगली नहीं उठाता, पर यही तो लोगों की निरंतर रुचि का कारण भी है। चरित्र को लेकर अफ़वाहें ज़्यादा दिनों तक नहीं चल सकतीं। सारा रहस्य तो इस औरत की आत्म-केन्द्रता में है। दूर्वा की निविड़ किन्तु विवश आत्मकेन्द्रता को उजागर करने के लिए पूरी कहानी में एक नाटकीय घटना-क्रम फैलाया गया है और इस कवच के बिना दूर्वा कितनी निरीह है, कितनी नंगी! उसका बीमार पड़ जाना एक और चर्चित विषय बन जाता है। काठ की चीज़ के लिए इतना मोह और मनुष्य से ऐसी विरक्ति! सचमुच अजीब है दूर्वादास! और इसके लिए यदि अनुरंजन यातना भी पाता है, तो वह क्या कर सकती है। 'फेटिश' वस्तु रति नहीं, टेबुल वस्तु नहीं, यही तो उसका अंसन्त्र है, जो उसे परिवेश के उन्माद से बचाता है, यही तो शरणदाता है।

अकेली स्त्री की मानसिक झख की यह कहानी कहीं गहरे में एक उत्तप्त-अंतरंग विवृति भी है। मनुष्य का भाव-संसार सचमुच ही बड़ा जटिल है।

'तीन बिन्दियाँ' विशुद्ध रेणु मार्का कहानी है। मगर वह अपने परिवेश में 'तीसरी क़सम' की दुनिया से अलग है। 'रसप्रिया' का शहरी संस्करण। गाँव की स्वच्छंदता को छोड़कर कठोर शास्त्रीयता किस प्रकार स्रोत को सुखा देती है, इसका मार्मिक अन्यापदेश इस कहानी में किया गया है। 'तीन बिन्दियाँ' वस्तुतः एक रूपक ही है। मूल नाद और सहायक नादों से बननेवाली इस गायकी कथा में एक कलाकार की आत्मा का संघर्ष भी निहित है। इस संघर्ष में मीताली दास को शिल्पी हाराधन की याद आती है।

'हाराधन' कला की दुनिया में कितना अजनबी हो गया है। स्वाभाविक है कि उसके सधे हुए स्वर में कहीं से एक झनझनाहट, कर्कशता पैदा हो गई है। समय ने उसके स्वर में यह कर्कशता भर दी है। कहानी हाराधन के साथ हमें बृहत्तर अतीत में ले चलती है—कलकत्ता, नेपाल, मधुमारा के जंगल और फिर ग्लेड के उस अंतरंग वातावरण में जहाँ कला-संगीत के लिए एक भरापूरा वातावरण है और इस वातावरण में मूलराग के साथ सहायक रागिनियों का आरोही स्वर। आंचलिक रागिनियों की मीताली दास ने उपेक्षा की थी। तभी इन सहायक रागिनियों से उसका

स्वर-स्रोत जड़ हो गया। मीताली उससे सीख ले चुकी है। गीतों से गंध का परिवेशन कला की साधना भी है और कला का उत्कर्ष भी है।

मीताली का यह गंध-परिवेश संगीत की आत्मा से ही मूर्त्त हुआ है। मूलनाद से नौगुन की ऊँचाई पर उत्पन्न सहायक नाद! जनगण की पगध्वनियाँ सुनाती यह गीत-वर्षा जैसे मीताली के मन-प्राण को भिगाकर छोड़ती है। साधना की यह कहानी एक संघर्ष की कहानी भी है, जड़ शास्त्रीयता के विरुद्ध मन का स्वच्छंद नाद! 'तीन बिन्दियाँ' हिन्दी में अपने ढंग की अकेली कहानी है।

'आत्मसाक्षी' रेणु की कहानियों में एक विशेष महत्त्व की कहानी है, जो अपेक्षाओं से स्वतंत्र है। वस्तुतः वह मात्र पार्टी-विभाजन की व्यथा-कथा न होकर, एक विश्वासी कार्यकर्त्ता के उपराम होने के दुःख की कहानी मात्र न होकर, मज़दूर वर्ग के हिरावल के आत्मविभाजन की पीड़ा की ऐतिहासिक कहानी है। इस कहानी की गहरी व्यथा का संबंध स्वयं उस पार्टी कार्यकर्ता से तो है ही, समस्त मानवीय भविष्य से भी तो है। एक साधारण से गँवई पार्टी कार्यकर्ता के माध्यम से वह भारतीय वामपंथी-कम्युनिस्ट राजनीति के गंहरे अंतर्विरोध को भी उजागर करती है। उसका सरल रेखांकन हमें कहीं भी सरलीकृत नहीं लगता। यह इस कहानी के कथा का प्रवाह ही है, जो एक पात्र से होकर गुज़र रहा होता है। ऐसी कहानी रेणु फिर न लिख सके! 'अगिनखोर' भी इस सरल रेखांकन की कलात्मक ऊँचाई को प्राप्त न कर सकी।

कहानियों पर और कुछ लिखा जाना चाहिए था, पर एक छोटे विनिबंध की सीमाएँ हैं और इसी कारण चाहते हुए भी कुछ अन्य कहानियों की चर्चा से विरत होना पड़ा है।

नाटकीयता और प्रगीत का योगपद

रेणु के बृहत्तर उपन्यासों के कथा-शिल्प में बेहद आकर्षण है। यह ठीक है कि बाङ्ला के उपन्यासों में इस कथा-शिल्प का प्रयोग एकाधिक बार हुआ है। हिन्दी में नाटकीयता और प्रगीतात्मकता को प्रायः योगपद के रूप में उपयोग में नहीं लाया गया और यही कारण है कि हिन्दी के पाठकों को *मैला आँचल* और *परती : परिकथा* में गहरा आकर्षण मिला। कुछ लोग इसे यथार्थवाद का नया शिल्प भी मानते हैं। यथार्थवाद के इस शिल्प के संबंध को लेकर पहले भी संकेत में कुछ बातें कही गई हैं। उस संदर्भ को दुहराना ज़रूरी नहीं है। इस कथा-शिल्प की कुछ और भी विशेषताएँ हैं, जिन्हें अलग से लक्षित करना आवश्यक है। इन विशेषताओं में कथा-वाचकता की अनेकविधता भी शामिल है। सामान्यतः कथा अन्यपुरुष या अधिक आत्मीय स्थितियों में प्रथम पुरुष में कही जाती है। भारतीय कथा साहित्य में—कथा और आख्यायिका में—यह शिल्प काफ़ी पुराना है, पर कथावाचन में बदलते हुए स्वरों का संयोजन एक विशिष्टता है। रेणु के कथाशिल्प में स्वरों का वैविध्य भी है और दृश्य की बदलती हुई परियोजना भी है।

मैला आँचल में दृश्य के परिवर्तन या दृश्य-प्रवाह में परिवर्तन के लिए प्रगीत-पद्धति में कथाएँ संयोजित कर दी गई है। ये कथाएँ मूल कथा या वर्तमान कथा की पृष्ठभूमि में भावधाराओं का निर्माण करती हैं—कभी एक वातावरण की तरह और कभी एक निजंधर की तरह। इस प्रकार अतीत और वर्तमान, बाहर और भीतर का योगपदिक संक्रमण कथा में रस और प्रवाह पैदा करता है। इससे घटना-बहुलता को विश्राम मिलता है और घटनाओं में बहता हुआ पाठक अचानक ही रुककर किसी भूली हुई कड़ी से जुड़ जाता है। यह प्रभावशाली अंतर्कथा में बाधा भी नहीं बनता।

मैला आँचल की विशेषता यह है कि इसमें प्रयुक्त अंतर्कथाएँ स्वतंत्र नहीं हैं, उनका पूरे वर्तमान से जीवित संबंध है। वस्तुतः वे अतीत की निरंतरता को सार्थक करती हैं। किसी भी परिवर्तनशील किन्तु, परंपरित समाज के लिए यह दुहरापन एक ऐसी वास्तविकता है, जिसमें विरोध की सही-सही व्याख्या होती है। *मैला आँचल* बदलते हुए भारतीय ग्रामांचल की कथा भी है और व्यापक अर्थों में संपूर्ण भारतीय वास्तविकता के बदलते परिदृश्य की कथा भी है। ऐसी दुहरी वास्तविकता के लिए यदि किसी योगपद का प्रयोग किया जाता है, तो यह एक अत्यंत प्रभावशाली पद्धति सिद्ध होगा।

नाटकीयता का प्रयोग अक्सर घटित होते हुए व्यापारों के लिए किया जाता है। वर्तमान के क्रियाकलाप सार्थक दृश्य में संयोजित होकर प्रभावशाली हो जाते हैं। किन्तु सारी परिस्थितियाँ घटनाओं के रूप में व्यक्त नहीं होतीं। अक्सर परिस्थितियाँ बनती-बिगड़ती रहती हैं, पर घटित कुछ नहीं होता। घटना जैसा नाम उन्हें नहीं दिया जा सकता। अतीत की बहुत सारी घटनाएँ स्मृति में केवल आभास की तरह शेष रह जाती हैं। ऐसे आभासों को भी दृश्यों में संयोजित करने की अपेक्षा गीतात्मक कथाओं में प्रकट करना अधिक प्रभाव पैदा करता है।

स्पष्ट है कि नाटकीय तत्त्वों और गीतात्मक तत्त्वों में इस अंतर को ध्यान में रखकर ही भेद किया जाता है, पर जब इनका प्रयोग एक साथ, सहअस्तित्व की स्थिति में किया जाए तो उसकी कुछ स्वतंत्र अपेक्षाएँ भी होती हैं। *मैला आँचल* में नाटकीय और प्रगीतात्मक उपादानों का यह योगपदिक उपयोग यथार्थ को—बहुसंरचनात्मक यथार्थ को—ठीक-ठीक व्यक्त करने में सर्वथा समर्थ हैं। यह कथा-शिल्प का कलात्मक उपयोग ही माना जाएगा।

बहुसंरचनात्मक सामाजिक-आर्थिक ढाँचा, प्राचीन विचारों और रूढ़ सामाजिक संस्थाओं के जीवित कार्यकारी अंश, पुरातन-परंपरागत संबंधों के विशाल क्षेत्र तथा इन सबसे प्रतिमुख आधुनिकता को यदि हम भारतीय वास्तविकता की जटिल समकालीनता कहें तो इसे व्यक्त करने के लिए बहुसंरचनात्मक शिल्प का ही उपयोग किया जा सकता है। रेणु का कथा-शिल्प इसी अनिवार्यता के कारण बहुसंरचनात्मक है। उसमें नाटक और प्रगीत की संरचनाओं के अलावा निजंधरों, लोक-कथाओं और आधुनिक रिपोर्ताज़ की व्यापक संरचनाएँ देखी जा सकती हैं। इन सबका प्रयोग संश्लिष्ट रूप में और अपेक्षित कौशल के साथ किया गया है। यह निश्चय ही कथा-साहित्य में रेणु की अपनी उपलब्धि है।

हिन्दी में रेणु का कथा-शिल्प बहुत ताज़ा है। उसकी ताज़गी अक्सर उसकी कथात्मक उपलब्धियों के दूसरे पक्षों को दबा देती है। उसकी नाटकीयता कहीं-कहीं अनियंत्रित उथल-पुथल का आभास देती है और पात्रों को अपने सार्थक परिवेश से स्वतंत्र करती हुई मालूम पड़ती है। उनकी नाटकीयता के इस 'बहाव' की ओर हमारी दृष्टि पहली बार नहीं जाती। एक से अधिक बार, और समय का अंतराल देकर, पढ़ने पर इसका अहसास होता है और तब वह बहुत प्रभावकर नहीं मालूम पड़ती। *परती : परतीकथा* में *मैला आँचल* की अपेक्षा यह दोष कम है क्योंकि उसमें नाटकीयता से अधिक गीत-कथाओं का उपयोग किया गया है, पर इन सीमाओं के बावजूद उनका कथा-शिल्प अलग से पहचान में आता है, अपनी कथात्मक गरिमा सिद्ध करता है।

रेणु के कथा-शिल्प की मूल विशेषता उसका आडंबरहीन होना और सहज होना

ही नहीं है, बल्कि उसका सप्राण होना और जातीय होना है। इस अर्थ में वे हिन्दी कथा-शिल्प के विशिष्ट शिल्पी हैं। चर्चाओं और गप्पों को सार्थक संगति में रखकर उन्होंने उन्हें अर्थ दिया है। ये लतीफ़ों या चुटकुलों से ऊपर की चीज़ें हैं। यही उनकी कलात्मक सार्थकता है। चूँकि ये चर्चाएँ और गप्पें एक ग्रामीण समाज की अविकल विशेषताएँ हैं, इसलिए उनका उपयोग वास्तविकता को अधिक सार्थकता प्रदान करने के लिए किया गया है—वास्तविकता की संगति-असंगति को पहचानने में इनसे मदद ही मिलती है। तथ्यों के साथ थोड़ी स्वच्छंदता हर कथा-लेखक बरतता है।

जन-कलाओं के शिल्प का उपयोग रेणु ने सबसे अधिक किया है, पर नागरजी की तरह सर्वत्र अपने शिल्प पर उनका नियंत्रण एक-सा नहीं है। रेणु अतिरंजनाओं के शिल्पी भी हैं, यह हमें नहीं भूलना चाहिए; पर ये अतिरंजनाएँ अपने परिवेश से सहज संगत हो जाती हैं, क्योंकि उनमें जातीय जीवन के तत्त्व भी शामिल हैं—विडंबनापूर्ण तत्त्व भी! वे ऐतिहासिक तथ्यों के साथ फ़रिश्ते की तरह पेश नहीं आते, तो इससे यही सिद्ध होता है कि वे साहित्य के झूठे मसीहों से अपने को अलग करना चाहते हैं। वे न भविष्यवाणियाँ करते हैं और न भविष्यवाणियों को कलात्मक गरिमा ही देते हैं। वे अपने कथा-शिल्प के लिए कोई दावा नहीं करते!

शिल्प की सफलता उसकी बनी रहनेवाली ताज़गी है। यदि बार-बार पढ़ने पर भी उसका पाठ हमें उबाता नहीं, खिझाता नहीं और न आगे बढ़ने से रोकता है तो इसे शिल्प की बुनियादी सफलता मानना चाहिए। रेणु उन कथा-शिल्पियों में नहीं हैं, जो शिल्प को प्रयोग का विषय मानते हों। इस अर्थ में वे तथाकथित आधुनिक कथा-शिल्पियों से निश्चय ही अलग हैं। यह दूसरी बात है कि निर्मल वर्मा उनके शिल्प की तारीफ़ करते नहीं थकते। यह शिल्प उनकी सजातीयता में ही अपनी सामर्थ्य प्रकट करता है। कथा से कथा का साहचर्य संबंध—अंतर्कथाओं का यह आवर्त्त—सचमुच ही नाटक और प्रगीत के योगपदिक शिल्प को रसपूर्ण बना देता है। अतीत और वर्तमान का यह सह-अस्तित्व न केवल एक प्रवाह की तरह निरंतर और अखंड है, बल्कि इस योगपद से आरोही-अवरोही संगीत भी बनता है—जीवन की लय, एक देश के भीतर काल की लय! परानपुर कितने रंग-रूपों में हमारे सामने आता है। लगभग दो सौ वर्षों का गाँव अपनी बदलती हुई छविमयता में सहसा साकार हुआ जाता है। मेरीगंज बहुत पुराना नहीं है, पर इतना पुराना तो अवश्य ही है कि उसका भी एक इतिहास हो! इस इतिहास के साथ वर्तमान के जीवन की हलचलों का संयोजन और फिर उसके अनुभवों का ताना-बाना वास्तविक कालकथा भी है। इस कालकथा को विवरणों से ही लेखक ने पुष्ट किया है, पर ये विवरण केवल घटनाओं, चरित्रों और तथ्यों के नहीं हैं, मानवीय समुदाय की प्रतिक्रियाओं-विश्वासों और परिघटनाओं के भी हैं। काल का बिम्ब कहीं सपाट है, दृश्य है, कहीं यह बिम्ब टेढ़ा-मेढ़ा, जटिल और आंतरिक गहराइयों में प्रतिबिम्बित होनेवाला भी है।

दृश्यों, बिम्बों, चित्रों की ऐसी प्रवाहपूर्ण लय निश्चय ही हमें रमाती है, अभिभूत करती है। उसकी छविमयता विस्मयकारी है, पर इनसे जीवन का दैनंदिन ताना-बाना आहत नहीं होता, समृद्ध ही होता है। इसकी कवित्वपूर्णता अवाचक को वाचक बनाती है—भाव-रूप से समृद्ध करती है। फिर नाटकीयता उसमें प्राण प्रतिष्ठा करती हुई मालूम पड़ती है।

मैला आँचल में नाटकीयता किसी आत्मचित्र को पूर्ण करने के लिए नहीं है—वह एक ग्राम समुदाय के जीवन को पूर्ण करती है। *मैला आँचल* की दृश्यावली परिघटनाओं से पूर्ण होती है। उपन्यास एक उद्रघातक दृश्य से शुरू होता है—यादव टोली के लोग बालदेव को बाँधकर लिए आ रहे हैं। और पृष्ठभूमि में सन् '42 की दमनकारी मानसिकता है। यह ठीक है कि इस नाटकीयता में जनता, सन् '42 की क्रांतिकारी जनता की अवमानना छिपी है, पर आतंक की मानसिकता को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। गाँव के लोगों के मानस में मलेटरी और सुराजी का यह सह-संचरण एक परिघटना का अवशेष ही तो है···।

और, इसके बाद गाँव का कवित्वपूर्ण विवरण, स्मृति-कथाओं में लिपटा आंचलिक विवरण, क्या कम रसपूर्ण है! मेरी की कथा के बिना मेरीगंज की कथा कैसे पूर्ण होगी। गौना करके जाती हुई दुल्हन को दूल्हा कोठी दिखलाता है, साभिमान! कोठी नहीं है तो क्या हुआ, जनमानस में कोठी और मेरी तो अभी जीवित है! यहाँ अतीत को पुनरुज्जीवित करने की आवश्यकता नहीं है, वह जनमानस में जीवित है—जीवित अंग की तरह। उसे अनेक मानसिक भावात्मक आसंगों की अपेक्षा नहीं है। गाँवों में यह अतीत जीवित है, प्रत्यक्ष है—विश्वास-प्रत्यक्ष! और मेरीगंज का विवरण भी कितना रमणीय है—लोक का अंग है मेरीगंज! गाँव नहीं, एक पूरा अंचल हमारी आँखों के आगे अपनी छवियों में साकार होता चलता है। कल्पनाशील मन को तो एक पूरा परिदृश्य गोचर हो जाता है। बंध्या धरती, विशाल अंचल और यह तड़बन्ना! बालूचरों का क्षेत्र, पर एक धड़कती हुई ज़िन्दगी के स्पर्श से भरा-पूरा।

यह तो परिदृश्य है, इसके भीतर दृश्य बदलते रहेंगे। देश और काल की छवियाँ समस्त क्रिया-कलापों के साथ साकार-सक्रिय होती रहेंगी। गाँव इस परिदृश्य में और भी गोचर होने लगता है। आधुनिक भारत का गाँव समकालीन गाँवों की यह समकालीनता थोड़ी पसरी हुई है—शहरों की तरह एकदम काल में निबद्ध नहीं, देश के साथ घिसटती हुई समकालीनता! पर वह भी अपने कार्यकलापों से वंचित नहीं है।

एक और दृश्य सामने आता है, गाँव के मठ का! अपनी छायाछवियों में भी एकदम मृत नहीं है यह दृश्य! महंथ, चेला, रामदास और कोठारिन (लक्ष्मी) की यह दुनिया गाँव का ही एक हिस्सा है, पर गाँव से अलग। अपने आप में एक बंद दुनिया। मगर समय इस दुनिया के दरवाज़े पर खड़ा दस्तकें दे रहा है—उसकी आवाज़ बड़ी आतंककारी है। मठ की दुनिया से मेरीगंज की दुनिया में कथा खिंच आती है। प्रवाह बना रहता है। दृश्य सहचर होते रहते हैं। दृश्यों का यह सह-संचरण सचमुच

मैला आँचल में अत्यंत नाटकीय घटनाक्रमों से जुड़ता चलता है। लगता है फ़िल्म की तरह बिना पर्दा गिराए दृश्य बदल रहे हैं।

दृश्य और दृश्य के बीच गीत की कोई भूली हुई कड़ी जुड़ जाती है योगपद—योगपद बना रह जाता है।

और कथा के प्रवाह में कोई व्याघात नहीं होता? कितनी आँखों से देखी गई है यह कथा! हर पात्र की चेतना में जैसे एक ही कथा बुनी जाती है, हर आँख एक ही कथा को प्रत्यक्ष करती है! बालदेव, लक्ष्मी कोठारिन, कमली, डॉक्टर, बामनदास! सभी तो एक ही कथा के साक्षी हैं। चेतनाओं के अंतर से कथा का अर्थ बदलता है, विकसित होता है, पर मर्म ज्यों का त्यों बना रहता है। हज़ार आँखों से देखी गई ग्रामांचल की इस कथा में इतनी समृद्धि है कि एक 'कथावाचक' का स्वर उसे साकार ही नहीं कर सकता। कथावाचक अदृश्य बना रहता है, परकाय प्रवेश करता रहता है। हर आँख से वही देखता है, पर देखे हुए के मर्म को, अर्थ को, स्वतंत्रता भी देता है। कथावाचक कार्यकुशल है। उसकी क्षमता अपूर्व है। अपनी आँख को हज़ार आँखों में बदल देने की उसकी क्षमता है। सहस्राक्ष!

मैला आँचल में तीसरी दुनिया का एक संपूर्ण कथानक छिपा है। आंचलिकता तो केवल परिदृश्य है; परिघटनाएँ अपने विस्तार में ऐतिहासिक अर्थ रखती हैं। एक अभावग्रस्त उपमहाद्वीप की संपूर्ण पीड़ा, उसका संघर्ष उसमें साकार हुआ है, यह तो नहीं कहा जा सकता। पर उसमें बहुत कुछ ऐसा है, जो बीसवीं सदी की विश्वक्रांतिकारी प्रक्रिया से जुड़ा है। राष्ट्रीय मुक्ति की पृष्ठभूमि में यह कथा नए भारत के जन्म की पीड़ा-भरी कथा नहीं है क्या? क्षेत्रीय असंतुलन के तत्त्व इसमें हैं, पर उनका होना ही तो इस कथा को वास्तविक बनाता है। एक दीर्घ तथा पसरी आंचलिकता में जन्म लेती हुई नई ज़िन्दगी—बदलने की पीड़ा से छटपटाती हुई। इस ज़िन्दगी ने तो कोख ही में असंभव आकार प्राप्त कर लिया है। इसकी कथा कहने के लिए 'वाचकता' का विस्तार चाहिए। इसकी वाचकता इकहरी नहीं हो सकती। इसीलिए *मैला आँचल* की वाचकता में नाटकीय वैविध्य है।

इसकी कथा में अनेक संवादी स्वर हैं। शुक-शुकी-संवाद की तरह एकस्वरता नहीं है। मध्ययुगीन कथावाचन की नाटकीय पद्धति इस उपन्यास में आकर ख़ूब समृद्ध हो गई है। इससे काल-संदर्भ और समृद्ध हुआ है। कला की किसी तीसरी आँख से यह कथा प्रत्यक्ष की गई होती तो शायद हलचलों भरी यह दुनिया साकार न हो पाती। तब *नदी के द्वीप* हो जाती। तब एक त्रिकोण बनता—बालदेव-लक्ष्मी, डॉक्टर-कमली, कालीचरण-मास्टरनी जी! और उन्हें घेरने के लिए एक वृत्त बनाया जाता। वृत्त केवल तीन ही बिन्दुओं पर कथा को छूता, शेष स्पर्शहीन रह जाता। पर *मैला आँचल* तो एक परिवृत्त है—केन्द्र से फैलता हुआ, हर बिन्दु को एक वृत्त में आयत्त करता हुआ और फिर अगले चक्र के क्रम में विकसित होता हुआ! तब *मैला आँचल* किसी फ़िल्म की पटकथा की तरह सपाट और अर्थहीन हो जाता।

कथावाचक ने अपना गुरुतर कर्तव्य इस उपन्यास में निबाहा है। संवादी स्वरों की अनेकता से इस उपन्यास में कोलाहल भी पैदा नहीं होता। कोई भी स्वर अनसुना नहीं रह जाता, किसी स्वर पर कोई दूसरा स्वर हावी नहीं होता। विवादी स्वरों से भी कथा कोलाहल में नहीं खो जाती। कथावाचन की यह पद्धति महाकाव्यात्मक उपन्यासों के लिए अत्यंत कार्यकारी पद्धति है—इसे सबने स्वीकार किया है। इसके सभी स्वर मौलिक और समान रूप से गोचर हैं। सबकी अपनी सार्थकता है।

बालदेव किस दृष्टि से घटनाक्रमों को प्रत्यक्ष कर रहा है? एक राष्ट्रीय मुक्ति का सामान्य गँवई सेनानी, जिसे आज़ादी के बाद की राजनीतिक परिस्थितियों ने मूलधारा से काटकर अलग कर दिया है। फिर भी उसमें दृढ़ता है। अब वह दूसरों की बोली नहीं बोल सकता। समय की बोली बोलना उसने नहीं सीखा! वह अधिक से अधिक चुप हो सकता है, पर वह हर स्थिति में चुप रहेगा, इसकी कोई गारंटी नहीं है। विवश वह है, पर पराजित नहीं। अपराजेय विवशतावाली बात उसके साथ सही होती है। बालदेव के बिना यह कथा आधार-रहित हो जाती। उसके स्वर की अपनी सार्थकता है। बालदेव और बामनदास एक ही ऐतिहासिक वास्तविकता का अपनी-अपनी दृष्टि से मूर्त्त करते हैं।

बालदेव सामान्य आदमी है। तीसरे-चौथे दशक का लघुमानव! साधारण की प्रतिष्ठा का प्रतीक चरित्र। इस चरित्र की दृष्टि का, कथा में उसकी साझेदारी का, अपना महत्त्व और अर्थ है। बालदेव राजनीतिक विभेदीकरण का शिकार उतना नहीं है, जितना अपनी ही राजनीति के अवसरवाद से विवश है। उसकी पीड़ा आज़ादी के सपनों के विवश होने की पीड़ा है। उसकी दृष्टि कथा को एक भौतिक-ऐतिह्य आधार देती है। बालदेव की पीड़ा यह नहीं है कि इतिहास उसकी इच्छा के अनुसार निर्णीत नहीं हुआ, बल्कि यह है कि वह लाखों-करोड़ों जनगण की इच्छा के अनुसार निर्णीत नहीं हुआ। कथा में यह पीड़ा अत्यंत स्वरित है। गाँव से कटा, मठ के एकांत में आत्मसंघर्ष करता हुआ बालदेव अपनी दृष्टि से इतिहास के इस पूरे प्रक्रम को प्रत्यक्ष करता है।

और वामनदास! अकेला अपराजित स्वर! बहुत अधिक सवाक् नहीं, पर अत्यंत दर्द से भरा स्वर! किसी शोक भरे गीत की धुन की तरह मंद-तरल किन्तु दृढ़! वामन के पास अपनी आँख है। अँधेरे में वह अपनी भीतरी आँख खोलकर देखना चाहता है। महात्मा जी के विश्वास को अपनाकर अँधेरे में आँखें साधता है! चुन्नी गोसाई पार्टी से चला गया—एक दर्द के दाह से संतप्त स्वर! गंगा रे जमुनवाँ की धार, भारत माता रोय रही!

भारत माता अब भी रो रही है बालदेव! कैसा दर्द है इस स्वर में! कितनी गहरी पीड़ा है!! उसे जीवित इतिहास याद है। अपने क्षेत्र का इतिहास—पर वह भी तो पूरे देश के इतिहास का ही अंग है। बिलैती कपड़ा के पिकेटिन के दिन उसे याद आते हैं। भोलंटियरों को पीटनेवाला और क़ैद का खर्च देनेवाला सागरमल आज

नरपत नगर थाना कांग्रेस का सभापति है! यादें और याद! स्मृतिशेष घटनाओं के प्रवाह में धँसता हुआ वामनदास उदास रहा करता है। गाँधी जी उसे पुकारते भगवान्! और वही उदास है—उसका स्वर उदासी से डूबा है। कथा में यह स्वर सबसे अधिक प्रभावकारी है। यह स्वर नाटकीय नहीं है, अपनी भावना में प्रगीतात्मक है, पर नाटकीय तेवर पर उतर आए तो वह अपराजेयता का स्वर बन जाता है।

वामनदास कथा का एक आनुषंगिक पात्र है, पर इतिहास के केन्द्र से उसको विचलित किए जाने को क्या कम महत्त्वपूर्ण माना जाएगा? ऊपरी दृष्टि को भेदकर कथा की आत्मा तक को चुनौती देनेवाले इस स्वर में अपूर्व दृढ़ता है। सन् '32 का कार्यकर्त्ता, सन् '42 का अपराजेय नायक, सन् '47 में इतना अकेला कैसे हो गया, इतना विवश!! कथा के योगपद में उसका एक स्वर और जुड़ गया है। कभी-कभी यह स्वर अंतरालाप में खो जाता है। अपने से ही जूझता हुआ वामनदास संवादी भी है और विवादी भी है। उसका प्रत्याख्यान भी एक कालकथा है! भारतीय इतिहास की सबसे निकटतम काल-कथा, जिसकी त्रासदी बाद की तीन पीढ़ियाँ झेलती हैं।

सीताराम! सीताराम! आवाज़ पाठक के कान में गूँजती रहती है। अनुगूँज भी उतनी ही प्रत्यक्ष है। सरस्वती देवी ने एक क्षण के लिए उसे अनजाने ही मार्ग-भ्रष्ट कर दिया था। गाँधी जी की तस्वीर ने उसकी रक्षा की! वामनदास व्रत लेता है, आत्मशुद्धि—'भगवानेर व्रत भंग हउवा असंभव' आभारानी को भगवान की याद आती है। मगर राज्यसत्ता को क्या हो गया? उसने इस भगवान को सिंहासन से उठाकर कहाँ फेंक दिया! वामनदास को अपनी अवहेलना के लिए दुःख नहीं है। उसके स्वर में तो देश-प्रेम की पीड़ा भरी आत्मा कराहती है। वामनदास का स्वर अपराजेय किन्तु विवश; वामनदास की दृष्टि—घटनाक्रमों के मर्म को उधेड़नेवाली दृष्टि!

डॉ. प्रशांत! संभ्रांत, शिष्ट, युवा और बाहरी! वह इस कथापट का नायक है क्या? नहीं, वह भी अन्य लोगों की तरह एक ही स्वतंत्र इकाई है। बाहरी होकर भी कथा में उसकी अंतरंग भूमिका है। वह पूरी कथा के साथ जुड़ा हुआ पात्र है। वह वाचक नहीं, लेखक है। अपनी डायरी में वह *मैला आँचल* की कथा का एक अंश लिख रहा है। संपूर्ण कथा पर किसका अधिकार है, कौन जाने!! मध्यवर्ग का यह प्रशिक्षित सेवाव्रती गाँव आता है मलेरिया पर शोध करने और गाँव की ज़िन्दगी के प्रवाह में उतर पड़ता है। भूख, ग़रीबी, बीमारी और सबसे ऊपर अज्ञान की परतों में दबी ज़िन्दगी उसे उद्वेलित करती है। वह चुपचाप इस पर प्रतिक्रिया करता है। यही उसकी साझेदारी है। तहसीलदार की बेटी से उसका रोमांस गाँव में चाहे कहानी बन जाए पर उसके लिए कहानी नहीं है, वास्तविक संलग्नता है। उसकी डायरी में भी एक स्वर है—डूबा-डूबा प्रशांत! किन्तु प्रतिक्रिया करने की बेचैनी से भरा हुआ।

वह अपने पत्र में ममता को लिखता है—'यहाँ की मिट्टी में बिखरे लाखों-लाख इंसानों की ज़िन्दगी के सुनहरे सपनों को बटोरकर, अधूरे अरमानों को बटोरकर, यहाँ के प्राणी के जीवकोश में भर देने की कल्पना की थी मैंने। मैंने कल्पना की थी, हज़ारों स्वस्थ इंसान हिमालय की तराई की कंदराओं में, त्रिवेणी के संगम पर, तिमूर और सुणकोशी के संगम पर एक विशाल डैम बनाने के लिए पर्वततोड़ परिश्रम कर रहे हैं। लाखों एकड़ बंध्या धरती, कोशी-कवलित, परी हुई मिट्टी शस्य-श्यामला हो उठेगी। क़फ़न जैसे सफ़ेद बालू भरे मैदान में धानी रंग की ज़िन्दगी की बेलें लग जाएँगी। मकई के खेतों में घास गढ़ती हुई औरतें बेवजह हँस पड़ेंगी। मोती जैसे सफ़ेद दाँतों की चमक···।'

डॉक्टर ने रोग की जड़ पकड़ ली है। ग़रीबी और जहालत—इस रोग के दो कीटाणु हैं। डॉक्टर की आत्मा कहती है, डॉक्टर की आत्मा सुनती है। दूसरे भी सुन रहे हैं इस अंतर्ध्वनि को। कालीचरण तक यह अंतर्ध्वनि पहुँच चुकी है। कर्मकार तक यह आवाज़ पहुँच चुकी है। पर जनता! डॉक्टर के स्वर में आत्मद्वंद्व है—

"पेट—यहाँ इनकी सबसे बड़ी कमज़ोरी है। मौजूदा सामाजिक न्यायविधान ने इन्हें अपने सैकड़ों बाजुओं में जकड़कर ऐसा लाचार कर रखा है कि वे चूँ तक नहीं कर सकते। फिर भी ये जीना चाहते हैं। वह उन्हें बचाना चाहता है। क्या होगा?"

उसके स्वर में एक सार्थक मानवीय सरोकार की ध्वनि है। वह बाहरी हो सकता है; पर इस अनुभव को बाहरी नहीं मान सकता। उसकी अपनी छटपटाहट है। यों कथा में वह सबसे कम मुखर है। मगर उसकी बातें शब्दों के प्रत्यय के बिना भी व्यापक हैं। डॉक्टर के स्वर में नाटकीयता नहीं है। एक वैज्ञानिक की स्थिरता है। कहीं-कहीं यों कविता का स्पर्श ज़रूर है, पर यह कविता अकेले कंठ की पुकार नहीं है। उसकी दृष्टि व्यापक है और वह अपनी दृष्टि से, पूरे परिदृश्य की वास्तविकता से स्वयं परिचालित हो रहा है। कमली से उसका प्रेम शहरी रोमांस की तरह इच्छा और अवसर का रोमांस नहीं है। वह कमली से प्रेम करता है और उसकी ज़िम्मेदारी ढोता है। सारे विरोधों को तोड़कर वह कमली से विवाह कर लेता है।

लक्ष्मी कोठारिन और वामनदास की दृष्टि में समानता और भेद के स्वाभाविक अंतर्य को स्वीकार करने के बाद एक और तथ्य इस कथा-पद्धति के साथ प्राणवंत रूप में विवृत होता है। लक्ष्मी बालदेव के माध्यम से अपने आसपास की राजनीतिक वास्तविकता को आत्मसात् करती है और वामनदास की व्यथा को भी कही-न-कहीं अपने भीतर साकार करती चलती है।

भारतीय सामंतवाद के एक अत्यंत निन्द्य और ह्रासशील संस्थान से जुड़ी हुई यह अभागी सत्तो कोठारिन है। किन्तु उसकी वास्तविक स्थिति कुछ भिन्न ही है। वह हर महंथ की नाजायज रखैल है। संप्रदाय भी इसकी इजाज़त नहीं देता, क्योंकि अंततः वह 'दासिन' है। उसकी दृष्टि से देखी गई वास्तविकता यद्यपि बहुत बड़ी नहीं है और हमारे सामाजिक जीवन के व्यापक संसार का केवल एक हिस्सा है, पर उसकी स्थितियाँ अत्यंत भयानक, अमानवीय और नृशंसतापूर्ण है।

कथा लक्ष्मी के संदर्भ में यों शुरू होती है—'लक्ष्मी का भी तो संसार में कोई नहीं है।' लक्ष्मी की सोच का सिलसिला यहीं से तो शुरू होता है। संबंधहीन और रक्तसंबंध से नगण्य लक्ष्मी सोचती है और उसकी सोच का मर्म खुलता जाता है। अपनी नरमदिली की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति पर स्वयं उसे चिन्ता होती है। सचमुच उसका दिल नरम क्यों है? डॉक्टर को देखकर उसका दिल पिघल गया है। सत्‌गुरु हो! लक्ष्मी क्षमा की प्रार्थना में लीन हो जाती है, पर उसके नारी मन का एक कोना गल जाता है। उसकी भी तो इच्छाएँ हैं—सहज, नारीसुलभ इच्छा! आज तक पुरुष उसे प्राप्त करता आया है। क्या अपनी इच्छा से उसे पुरुष प्राप्त करने का कोई नैतिक अधिकार नहीं है? क्या उसे वरण करने की कोई स्वतंत्रता नहीं है?

लक्ष्मी की कथा भारतीय नारी की परतंत्रता का एक नंगा उदाहरण है। वह किसी भी अर्थतंत्र की दासी हो, क्या फ़र्क़ पड़ता है! पारिवारिक अर्थतंत्र की दासी बनकर कम-से-कम एक सामाजिक स्वीकृति तो उसे प्राप्त हो जाती। पर, इस संस्थान के अर्थतंत्र में तो उसका सामाजिक अस्तित्व ही नहीं है। अपने इस दुर्भाग्य के आमने-सामने खड़ी यह स्त्री हमें अभिभूत करती है—अपने भोग की विवशताभरी ज़िन्दगी से। फिर भी, अपने प्रतिरोधी शौर्य से वह चमकती है। एक कौंध बन जाती है। उसकी कथा चाहे कथानक का कौंध भरा हिस्सा न हो, पर उसका मर्म वामनदास और बालदेव से छोटा नहीं है।

महंथ साहब का चित्त थिर नहीं होता और सत्‌गुरु की जगह वे लक्ष्मी-लक्ष्मी पुकारते हैं। उस दिन बीजक छूकर क़सम खाई थी, आज फिर पुकार रहे हैं! लक्ष्मी सत्‌गुरु से मृत्यु की कामना करती है। इस पराश्रित दयनीय जीवन से तो मृत्यु भली। आत्मग्लानि से वह संत्रस्त हो उठती है। 'महंथ साहेब, सत्‌गुरु को याद कीजिए,' वह कहती है, पर सोच उसे दूसरी दिशा में ले जाता है—'अंधा आदमी जब पकड़ता है तो मानो उसके हाथों में मगरमच्छ का बल आ जाता है।'

महंथ साहब सत्‌गुरु को प्यारे हो गए, रामदास महंथ हो गया। वह तो हर महंथ की दासी है। रामदास अपना अधिकार पाना चाहता है, पर एक अंतर्क्षेप! लरसिंघदास की आँखें पहचानकर वह रामदास की ओर से लड़ाई मोल लेती है। वह साहस से कहती है—रामदास मठ का धर्मगुरु है, अधिकारी है। पर उसे क्या पता, सबकी आँखों में उसके लिए एक ही पहचान है। कहाँ-कहाँ बच पाएगी वह! लरसिंघदास से बचकर भी तो वह अपना बचाव नहीं कर पाती। अपनी निस्सहायता और सामाजिक अस्तित्व के नाश की पीड़ा को सचमुच वह अकेली झेल रही है—संसार में उसका कोई नहीं है।

लक्ष्मी *मैला आँचल* में सबसे अकेली है। और वामनदास? नहीं, उसके साथ तो सारा देश है। बापू हैं; पटनिया देवी जी हैं। वह अकेला कैसे हो सकता है! हाँ, उसकी भी नियति अकेली हो सकती है, इसे लक्ष्मी नहीं जानती, नहीं जान सकती, पर वह सचमुच अकेली है। अपने जीवन के भोग में अकेली। बालदेव के पास आकर उसे अपनी सार्थकता का थोड़ा बोध होने लगता है। जीवन जीने योग्य है, उसके लिए संघर्ष किया जा सकता है—अपने और दूसरों के लिए संघर्ष। यह अकेली स्त्री कितनी विवश है, फिर भी अपराजेय है। *मैला आँचल* में ऐसे चरित्रों की कमी नहीं है। उनकी एक पंक्ति खड़ी की जा सकती है, पर इन कथा-चरित्रों को जब हम घटना-प्रवाह में छूटता हुआ पाते हैं तो क्षोभ होता है।

आचारज गुरु काशी से आते हैं। उनके साथ कई लोग हैं। नागाबाबा भी हैं। रात में खाली पैर लक्ष्मी की कोठरी की ओर आते हैं और गालियाँ देते लौट जाते हैं—'हरामजादी, किवाड़ बंद करके सोती है।' ऐसी छोटी-छोटी किन्तु मारक घटनाओं में पली है लक्ष्मी। मठ की महंथी का मामला आता है। उसकी स्थिति अत्यंत दयनीय है। बालदेव से उसे सहायता का भरोसा है, पर धर्म के मामले में वह गाँधीवादी नाक नहीं घुसेड़ेगा। औरत का अपमान उसकी नैतिकता सह सकती है, पर धर्म में नाक नहीं घुसेड़ सकती। कालीचरण गहरे वक़्त काम आता है। किसी स्वार्थ से नहीं, उत्साह और सहायक सिद्ध होने की प्रेरणा से। लक्ष्मी के अनुभव में एक पूरी दुनिया है। उस दुनिया में ढँके-नंगे लोग हैं। उसका अनुभव बहुत ही तीखा है।

महंथ रामदास के आँगन में नदी बह रह रही है और वह प्यासा है। ऐसी होती है यह प्यास! लक्ष्मी उसे सत्‌गुरु वचनामिरित पिलाती है, पर नदी के किनारे खड़े प्यासे को आकाश देखना पसंद नहीं है। लक्ष्मी सब कुछ समझती है, जानती है। फिर भी···फिर भी! दूसरे के तन के ताप को ही तो वह अब तक सहती आई है, अपने तन का ताप उसने कब देखा है? बालदेव को लक्ष्मी फिर भी भूल नहीं पाती। साधु स्वभाव के पुरुष हैं, दूसरों का चित्त दुखाना नहीं चाहते। कैसी विडंबना है इस नारी मन की, कैसी मूढ़ता है इस नारी मन की।

'''और उसकी देह में सुगंध है, इससे उसका परिचय कहाँ है। बालदेव जी उस सुगंध से उसे सचेत करते हैं। बालदेव जी साधु हैं, बालदेव को उसकी गंध लगती है। कैसा विचित्र और क्षमाशील होता है यह नारी-मन और कितना आधारहीन। लक्ष्मी अपने मन से पहली बार पराजित हुई है—बालदेव के प्रति अपने मन के सहज राग से, उनके संपर्क से, उसे सचमुच ही कोफ़्त होती है। सच ही लक्ष्मी का मन उसके प्रति चंचल है, पर उसमें चोर नहीं है। बालदेव भी चोरी से उसके मन में नहीं आए हैं। ऐसी निर्भीक नारी को अपने उपन्यास में लाकर रेणु ने कथा में एक अँधेरी दुनिया को उजागर किया है। लक्ष्मी विशिष्ट है—अपनी साधारणता में असाधारण!

उपन्यास की कथा-दृष्टियों में बड़ा जीवित संतुलन बनाते हैं रेणु। कोई कथासूत्र अधूरा न रह जाए। कथा की माँग पूरी करने में प्रेमचंद के बाद यशपाल और नागर के साथ रेणु का नाम अकस्मात् दिमाग़ में उभर आता है। कथा कहने और उस कहे हुए का पूरा निर्वाह करने की दृष्टि से भी *मैला आँचल* एक अत्यंत प्रभावशाली उपन्यास है। उसका शिल्प जैसा हो, पर उसकी संरचना 'मोन्ताज' शैली

की नहीं है। पहली दृष्टि में ऐसा भ्रम हो सकता है। कुछ लोगों ने गंभीरता से यह समझाने की कोशिश की है कि रेणु 'मोन्ताज़' की शैली के उपन्यासकार हैं। पर मुझे *मैला आँचल* और *परती : परिकथा* के प्रसंग कभी उतने आत्मस्वतंत्र नहीं लगते। ये एक महाकाव्य की संरचना के समीप मालूम पड़ते हैं। अवश्य ही उसमें वृत्तांत का पुट कुछ ज़्यादा है।

और यह परिदृश्यात्मक-महाकाव्यात्मक कथा-शैली हमारी जातीय शैली है, जिसकी संरचना हमें अनेक 'कथाओं' में मिलेगी। अपने अगले उपन्यास का नाम *परती : परिकथा* देकर रेणु ने इसका ठीक-ठीक आभास भी दिया है। *कादंबरी* की वृत्तांत-शैली के अतिरिक्त *मैला आँचल* के अंतर्कथाओं का विधान भी है। यह उसे वास्तविक पदयोग देता है। कथा और कविता का यह योग सचमुच ही *मैला आँचल* के शिल्प को हिन्दी में अद्वितीयता प्रदान करता है। इस कथा-शिल्प को रेणु ने *परती : परिकथा* में कुछ और गूँथा है। उसे पढ़ते हुए 'कोलाज़' का भ्रम नहीं होता। उसमें अवश्य ही कथा के चार-पाँच परस्पर सहसंचरण करनेवाले कथानक हैं जो एक-दूसरे से समान संदर्भों से जुड़े हुए हैं। *परती : परिकथा* का रचना-शिल्प परिदृश्यात्मक-कथात्मक शिल्प है। अंतर्कथाओं से बुना गया यह कथा-शिल्प *मैला आँचल* के नाटकीय मोन्ताज़ का भ्रम कम उत्पन्न करता है। यद्यपि इसमें भी कथा के परिवृत्त के भीतर कई नाटकीय दृश्य जैसे टुकड़े हैं, फिर भी उसकी व्यवस्था अधिक व्यापक और अंर्तप्रवाहपूर्ण है।

धूसर, वंध्या, अंतहीन आंतर का 'दृश्य' नाटकीय नहीं है, छविमय है। यह छविमयता धरती की है—एक विशिष्ट रंग-रेखाओंवाली धरती की। और इसी धरती के साथ *परती : परिकथा* जुड़ी हुई है। शीर्षक ही इसे सार्थक कर देता है। मध्ययुगीन तंत्र-साधकों की कच्छप पृष्ठभूमि और पंचचक्रों की यह धरती अपनी व्यथा-कथा छिपाए न जाने कितने वर्षों से वीरान पड़ी है। और लेखक का डूबा-डूबा स्वर परिदृश्य के खुलते ही सुनाई पड़ता है—पार्श्व-संगीत की तरह मद्धिम किन्तु प्रभावशाली। इस परती की भी कथा होगी—व्यथा भर कथा इस वंध्या धरती की। यह स्वर नाटकीय कम है, परिवृत्तात्मक ज़्यादा है। एक प्रभाव के साथ व्यथा की कड़ियों का संकेत स्पष्ट होता जाता है।

इस प्रवाहपूर्ण 'कॉमेण्टरी' के साथ 'दृश्य' जीवित होने लगता है। परती सजीव होने लगती है, गंध-स्वप्नयुक्त! पक्षियों की आवाज़ें—केंक···केंक···केंए! बालूचरों से बालूचरों तक दौड़ती आवाज़ें एक परिदृश्य खोलती हैं। कैसा है यह परिदृश्य! हहास भरी धरती का परिवृत्त! और उसमें जीवन का आभास देनेवाले ये स्वर। पक्षियों के नाना जाति-वर्ण रूप। बालूचर जीवित हो उठते हैं, जैसे वंध्या धरती सपने देखने लगती है और इन्हीं धरती के सपनों से एक सपना जितेन्द्र नाथ मित्र का भी जुड़ता है।

इस परिदृश्य के साथ छोटी-छोटी लोक-प्रचलित कहानियाँ हैं। इनका रंग कम चटख नहीं है। इनका प्रभाव दृश्य को स्वर-संगीत के साथ अर्थ से भरता चलता

है। इसलिए मैंने कहा है परिकथा-शिल्प परिदृश्यात्मक-महाकाव्यात्मक है। उसके प्रवाह में कहीं वेग है और कहीं मंथरता। अंतर्य के साथ प्रकट होनेवाले इस योगपद में—आरोह-अवरोह के इस स्वर विधान में कथा का 'मूड' तैरता है। किसी पश्चिमी व्याख्याकार ने कथात्मक 'मूड्स' को लेखक की कथादृष्टि कहा है। सही यही है कि ये विच्छिन्न लगनेवाले, संचरण करनेवाले और इस मानसिकता के भीतर होती है एक व्यथा-कथा, व्यक्तिगत त्रासदी नहीं, सामाजिक त्रासदी। इस बंजर भूमि की त्रासदी की तरह!

यह परती भी तो धरित्री है, धारण करनेवाली माँ! और इस माँ के साथ कहानियाँ जुड़ती हैं। धान कूटनेवाली पंडुकी की! इसके साथ ही कहानी के भीतर एक मूर्ति-कथा अनायास ही जन्म लेती है। रानी माँ और जित्तू! वंध्या धरती की पीड़ा कोई देव-दानव नहीं हरता, माँ कहती है। और तभी जित्तू के मन में एक सपना साकार होता है—अग्निगर्भ। वह वहाँ से जलपरी को खींच लाएगा—वंध्या धरती की मुक्ति का स्वप्न!

शुद्ध लोक-कथा की अंतरात्मा से जन्म लेनेवाला स्वप्न! आज़ाद भारत का स्वप्न!! अंचल-अंचल में रक्त-संचार हो रहा है, परती-परती धड़क रही है!!! तरुणाई के सपने ही साकार नहीं हुए, हज़ार वर्षों के बूढ़े सपने भी साकार होने की होड़ में हैं। न जाने कितनी पीढ़ियों ने इन सपनों को निरंतर देखा है, एक के बाद एक अखंड शृंखला, अनाहत क्रम में। इस पूरे परिदृश्य का यह कथा-गीत की तरह स्वर-संपाती विस्तार सचमुच आश्चर्यजनक है, सम्मोहक है। कथा के इस सम्मोहन में प्रगीत का मर्म धीरे-धीरे जैसे महाकाव्य का विस्तार पाता चलता है। स्वरों का आवर्त्त—स्वरों पर उभरते स्वर!!!

'गीत कथाकार' स्वर में जोड़ता है। छिन्नमस्ता कोशी की कथा में लोक-कल्पना कैसा विलक्षण मानवीकरण करती है और मानवीय स्थितियों के भीतर कथा सहज हो जाती है। सास-पतोहू की कथा। कुलवधू की कथा। गुनमंती-जोगमंती की कथा। लोक कल्पनाएँ सजीव होकर हज़ार कथाओं में साकार होती हैं। अतिरंजित और प्रगीत का, कल्पना और सामाजिक भोग का, वितान कथा में रूपांतरण होता चलता है। यह कथा-शिल्प चामत्कारिक नहीं है, जितना लोक-सहज है। ऐसी कथात्मक कल्पनाएँ परंपरित दीर्घजीवी समाजों ने मौलिक ढंग से की हैं—अपने-अपने परिवेश और चरित्र के अनुसार। अपने लोक की प्रकृति में डूबी ये कथाएँ जातीय मर्म को खूब उभारती हैं। इनका शिल्प लोक-मानस से जन्म लेता था, कथावाचन के नाना रूपों को उजागर करता है—कभी क़िस्सागो के रूप में और कभी वार्त्ताकार के रूप में। इस प्रकार की नाटकीयता *मैला आँचल* में ज़्यादा है। गीत, कथा-वार्त्ता, नाटकीय संवाद! *परती : परिकथा* में थोड़ा अंतर्य लाते हैं रेणु!

वार्त्ता की शैली की जगह संलाप *परती : परिकथा* में अधिक है। आत्मालाप भी और संलाप भी। इस लंबी संलाप-कथा के बाद दृश्य बदल जाता है। परानपुर

की वीरान धरती को देखती हुई कैमरे की आँखें! कैमरे की आँख सब कुछ देखती है, क़ैद करती है। ऊपर-नीचे, आगे-पीछे का दृश्य सहजता से क़ैद होता चलता है और इस कैमरे के साथ भवेश है। परती के विभिन्न रूपों का अध्ययन करने आया युवक! कथा में वह प्रायः अदृश्य है। कैमरा उसकी चुप्पी को भी सार्थक करता है। टेप और कैमरा कला की आँखें, कला का स्वर! या कथासार की आँखें, कथाकार का मन!

एक साक्षी सुरपति राय! दरभंगा से आए हैं और लोक-कथाओं, लोक-गीतों का संग्रह करते हैं। रानी डुबी घाट, दुलारी राय, परगना हवेली! सब गीत कथाओं में—लोक के रचनात्मक मानस में—क़ैद हैं। उन्हें सामने लाना होगा, मुक्त करना होगा। लोक-प्रेम और लोक-छल की व्यथा-कथाएँ। लोकवार्त्ता की तरह! परानपुर इन कथाओं का केन्द्र है। परानपुर पुराकथाओं का केन्द्र भी है और आधुनिक हलचलों का भी। परानपुर वर्षों की विस्मृति को तोड़कर जागा है। 'ग्रामांचल' जीवित हो उठा है, अपनी धड़कनों के साथ। आज़ाद भारत का ग्रामांचल। *मैला आँचल* की अवसादक कथा से *परती : परिकथा* का स्वर भिन्न है। उत्साह और आवेश में डूबा हुआ, नई ज़िन्दगी को प्रतिकृत करता हुआ, प्रतिकृत होता हुआ!

रेणु का 'कथावाचक' आश्चर्यजनक रूप से समृद्ध है। कितने ही स्रोतों से उसने अपनी कथा का रंग-स्वर प्राप्त किया है, ताना-बाना बुना है और 'टेक्सचर' ...मुलायम चिकनी सतह। *मैला आँचल* का 'टैक्सचर' इतना सम नहीं है। उसकी जमीन कुछ ज़्यादा खुरदरी है। *परती : परिकथा* से इस सख़्त ज़मीन को तोड़ा गया है। जितना ट्रैक्टर से परती तोड़ता है, रेणु क़लम से ज़मीन की सख़्ती तोड़ते हैं। तो क्या जितेन्द्र के रूप में रेणु की छवि सीमित होती है, छवि ही नहीं, पूरा व्यक्तित्व सीमित हो जाता है? क्या जितेन्द्र की भावधारा और विचारधारा के साथ रेणु को एक किया जा सकता है? हाँ, सपने एक हो सकते हैं। आज़ादी के आसपास तीन पीढ़ियाँ एक ही तो सपना देखती हैं। एक समृद्ध उपमहाद्वीप का सपना। इस सपने में सारा भारत शामिल है—शहर भी, गाँव भी।

इस आततायी सपने में 'रंगारंग में' स्वरों का आवर्त्तन तो सहज ही अनुमेय है। दृश्य अत्यंत समृद्ध हैं—केवल नाटकीय प्रभाव के लिए नहीं, एक संपूर्ण पदयोग बनाने के लिए। रेणु के कथाचक्रों में यह पदयोग फिर नहीं मिलता, यह आवर्त्त नहीं मिलता। शायद *मैला आँचल* के पात्रों को लेकर वे फिर इसी कथाचक्र के साथ अपने भावी उपन्यास में प्रकट होते, पर यह संभावना सदा के लिए समाप्त हो गई। वैसे अपनी कहानियों के द्वारा उन्होंने इस चक्र की भरसक रक्षा की थी, पर उपन्यास और कहानी में अंतर होता है। यह अंतर तो फिर भी रह जाता है।

कथा का प्रवाह चलता रहता है। कथावाचक के स्वर में संघटन का क्षेपक भी शामिल है। कथा के भीतर कथा। सुरपतिराय की नज़र से देखी गई कथा। परानपुर का वर्तमान और अतीत। यह अतीत 'हैंगओवर' या खुमारी की तरह खिझानेवाला

नहीं है। साफ़ और परिदृश्यात्मक है। घाट-बाट की कथा, पर सबका केन्द्र एक ही अभिमुखता सूचित करता है। सबका मुँह परानपुर की ओर ही है। *मैला आँचल* में कथा बाहर से केन्द्र की ओर गतिशील है और *परती : परिकथा* में केन्द्र से चारों ओर गतियों का आवर्त्त है—एक केन्द्रापसारी और दूसरी केन्द्राभिमुख।

बाहर से भीतर या भीतर से बाहर की गतियोंवाला कथा-शिल्प पश्चिम में ज़्यादा प्रचलित है। हमारे यहाँ जातीय कथाएँ इस गतिशीलता से भिन्न चरित्र प्रकट करती हैं। वे या तो केन्द्र की ओर आती हैं या केन्द्र से बाहर जाकर वृत्त बनाती हैं। क्या *परती : परिकथा* में एक सत्यान्वेषी के सामाजिक-साहित्यिक उद्देश्य और व्यक्तिगत जीवन के झूठ के बीच खाई मुँह बाए खड़ी है, जैसाकि कुछ आलोचकों का अभिमत है? क्या रेणु, अपने कथा-शिल्प से इस खाई को पाटने का भ्रम उत्पन्न करते हैं?

अगर ज़िन्दगी कृति की सबसे अच्छी टिप्पणी होती है तो मानना पड़ेगा कि *परती : परिकथा* में ज़िन्दगी धड़कती है। केवल जितेन्द्र के भीतर ही नहीं, उससे बाहर और स्वतंत्र भी। वह *परती : परिकथा* के सैकड़ों चरित्रों में धड़कती है, हज़ारों स्थितियों में धड़कती है। भवेश, सुरपति, मेरी, भिम्मल मामा, जितेन्द्र सबकी अपनी-अपनी दृष्टियाँ हैं और इस विशाल अंतर्वेद में—कथादेश में—क्रिया-कलापों की स्वतंत्र वार्त्ताएँ भी हैं। अनेक अंतर्क्षेप हैं। यहाँ तक कि 'व्यासगादी' भी। व्यासपीठ—कथा कहनेवालों की एक अंतहीन परंपरा।

'कथावाचक' के साथ लेखन की जॉर्नल शैली। आत्मीय और केन्द्रित। बीच-बीच में स्वर के साथ धुँधलाती है यह 'टीप'—दस्तावेज़ों की टीप से भिन्न, प्रायः उसी मूल प्रवाह में। शैलियों का यह सहसंचरण 'गड्डालिका प्रवाह' नहीं है। उसमें एक विचित्र 'सम' है। लगता है वह नीचे की ज़मीन से, कथा के भीतरी टैक्सचर से पैदा होता है। सुरपति अपनी टीप में उसे मधुर मायामय स्वर कहता है। मधुर तो वह है, पर क्या सचमुच ही 'मायामय' भी है? स्वर का भ्रम!

कथा के भीतर कथा-सुन्नरि नैका! और पंचरात्र की अहोरात्र गीत-कथा; कथाओं का यह संसार बड़ा समृद्ध है—अपने विषय में भी और अपनी अंतर्वस्तु में भी। स्वर की एकतानता के कारण और योगपद-संक्रमण के कारण उसका प्रभाव और भी गहराता चलता है। दंता राकस और दुलारी राय। आज भी तो इस कथा का एक सहपदिक अर्थ है! इस अर्थ को रेणु साकार करना चाहते हैं, अपने स्वर में! कई रंगों में, कई रूपों में। सप्तवर्णी कथा!!! लोक कथाओं के 'रूपक' बड़े मर्मस्पर्शी हैं। इन रूपकों का सामाजिक और समकालीन अर्थ ढूँढना बहुत कठिन नहीं है। हमारे साहित्य में रूपक की कथा-शैली का प्रयोग यद्यपि पश्चिमी 'एलेगरी' की तरह संगत रूप में नहीं हुआ है, पर यह हमारी रूपक-शैली का अपना आकर्षण है। रोमांसों में रूपक की बुनावट उसे विशिष्ट अर्थवत्ता प्रदान करती है, यह एक ज्ञात तथ्य है। *मैला आँचल* और *परती : परिकथा* में वृत्तों के साथ रूपकों का प्रयोग

हुआ है। ये रूपक किसी व्यापक धार्मिक अर्थ को व्यक्त नहीं करते, बल्कि व्यापक लौकिक अर्थ को वे स्थानीय संदर्भ में अधिक व्यापकता से व्यक्त करते दिखाई पड़ते हैं।

परती : परिकथा में दो परिवर्त हैं। इन दोनों परिवर्तों में एक ही कथा विकसित होती है, पर उनकी गतियों में अंतर है। स्थान में नहीं, चालन में अंतर है। क्या इसे हम दिशांतर परिवर्त कह सकते हैं? यह दिशा की ओर है या मात्र दशांतर है? किसकी दशा का अंतर?—अवश्य ही परती की दशा का अंतर। और दशा भी एक दिशा होती है—एक आयाम! दशा के अंतर्य से दिशा परिभाषित होती है। आज़ाद भारत में दशा (लोकांचल) का यह परिवर्त अवश्य ही ऐतिहासिक भविष्य रखता है। हम सबकी आँखें इसी ओर तो लगी हैं। मगर सचमुच ही ऐसा परिवर्तन दशा में, देश दशा में, घटित होता है क्या? या इसे केवल आश्वासनों से संतुष्ट किया गया है? इस प्रश्न का उत्तर अन्यत्र दिया जा चुका है। यहाँ हमारा उद्देश्य कथा में इस परिवर्तन के शिल्प को स्पष्ट करना है।

मनसा-मंगत के साथ—मांगलिक प्रार्थना और आशीष के साथ—इस परिवर्त की शुरुआत अर्थपूर्ण मानी जाएगी। अभिप्राय स्पष्ट है, पर यह मंगल किसका और किसके लिए है? इस मंगल के नाटक का सार यदि इतना ही है कि गाँव में सवर्णों ने पिछड़ों के 'नाटक' को 'सबोटाज' किया और उसी रात एक असवर्ण बाला ने एक सवर्ण युवक के प्यार के संसार को चाँद-सितारों से जगमगा दिया, तो इस सार में सत् नहीं है—रेणु के ही मुहावरे में। देशकाल को इतना सीमित करनेवाला परिवर्त उतना भी अर्थ नहीं रखता, जितना मलारी-सुवंश का गाँव छोड़कर भागना और विवाह करना है। इस एक और अकेली घटना का महत्त्व अवश्य ही व्यक्तिगत नहीं है—सामाजिक है।

मगर परिवर्त का और भी व्यापक अर्थ क्या हो सकता है? रेणु इस दूसरे परिवर्त में सारी कथाओं का एक नया परिप्रेक्ष्य देते हैं। दूसरे परिवर्त के कथा-शिल्प का आधार है बदला हुआ या बदलता हुआ परिप्रेक्ष्य। अलग-अलग बिन्दुओं से कथा की गतियों का साक्षात्कार करते हुए रेणु ने अगली कथा का संयोजन किया है। इस अगली कथा का सार इसी उपन्यास के एक पात्र के नज़रिए से जानना मुनासिब होगा। शैलेन्द्र कह रहा है —

"यह बात नहीं कि पहले कोई परिवर्तन नहीं हुआ समाज में। परिवर्तन होते रहे हैं।...बात है परिवर्तन की गति की।"

अभाव-अभियोग और व्यर्थता के विलाप से क्या इस परिवर्तन को समझा जा सकता है? नहीं, केवल इनसे परिवर्तन को आत्मसात् नहीं किया जा सकता। परिवर्तन का वेग तो बदला है, उसकी गति भी बदली है। उसमें एक असंभव दिखनेवाली तीव्रता आई है। इस वेग के साथ तालमेल रखकर चलना असंभव हो गया है। एक प्रकार की खाई—दो भिन्न दुनिया का 'गैप' या अंतराल। यह शैलेन्द्र

की व्याख्या है। मगर जायज व्याख्या है। गाँव और शहर के भीतर एक प्रकार की असंभव खाई पैदा हो गई है। जैसे गाँव बैलगाड़ी पर सवार है और शहर 'ज्येष्ठ' जहाज़ पर (भिम्मल मामा की शब्दावली में)।

और मकबूल की दृष्टि में इस परिवर्तन का अर्थ—'इस सांस्कृतिक उत्थान के लिए आर्थिक सहायता कहाँ से मिलेगी? भूखे किसान मज़दूरों को इससे क्या लाभ होगा?'

'समाज को मानवीय और मनुष्य को सामाजिक बनाना ही मुक्ति का एकमात्र पंथ है।'

कथा में मन की परती, तन की परती तो टूटी, पर समाज की परती भी टूटी क्या? कथा-शिल्प के सारे आग्रहों-सफलताओं के बाद *परती : परिकथा* अधूरी है। परत-दर-परत इस परती को तोड़ने के लिए एक कथा-परंपरा की आवश्यकता आज भी बनी है।

कई चक्रों में, कई दृष्टियों से कही गई यह कथा रोचक भी है और सार्थक भी। आज़ादी के बाद प्रासंगिक हो गई यह कथा आज भी अपनी पूर्णता के लिए ललक भरी पुकार बनी हुई है।

दो बृहत् उपन्यासों में से ये शिल्पगत प्रयोग अपने स्रोतों से जुड़े हुए हैं। ये अजनबी स्रोत नहीं हैं, केवल वर्तमान रूप में उनका संयोजन नया और प्रभावकर है। इस प्रकार के जातीय प्रयोगों की ओर ध्यान तब गया जब आंचलिक कथाएँ अपनी संभावनाओं के साथ आज़ादी के आसपास के वर्षों में लिखी जाने लगीं। वैसे, बाङ्ला उपन्यासों में इस प्रकार के प्रयोग सतीनाथ भादुड़ी और दूसरे लेखकों ने पहले भी किया था, पर यह अनुगूँज बाङ्ला से बाहर नहीं सुनाई पड़ी थी। हिन्दी में *मैला आँचल* और *परती : परिकथा* के प्रकाशन के बाद जो ढेर सारे आंचलिक उपन्यास लिखे गए, उनमें ये प्रयोग दुहराए गए। इसका एक प्रभाव अवश्य यह पड़ा कि कथा कहने की रूढ़ और प्रायः एक सी शैली की जड़ता टूटी और आंचलिक स्वरों की ताज़गी से पाठक को स्फूर्ति मिली। कथा चाहे जैसी भी हो, शैली की ताज़गी अवश्य ही इस धारा के उपन्यासों में उत्साहवर्द्धक रही। इसी क्रम में ओड़िया उपन्यासों के अनुवाद हुए। मलयाळम् के प्रसिद्ध उपन्यासकार तकषी शिवशंकर पिळळे का *मछुआरे* हिन्दी पाठकों को बहुत दूर तक प्रभावित करने में समर्थ हुआ। *वरुण के बेटे* की प्रेरणा का स्रोत भी संभवतः *मछुआरे* जैसा उपन्यास ही है।

हिन्दी कथा-शिल्प की इस खोज ने अवश्य ही उपन्यासों के ढाँचे में परिवर्तन के लिए लेखकों को प्रेरित किया। कई पुराने कथा-शिल्प की, विशेषतः कथावाचन की शैली की—सार्थक आवृत्तियाँ हुईं और रचनात्मक—व्यंग्यात्मक रूप में उनका उपयोग किया गया। वस्तुतः पश्चिमी कथा-शिल्प में जो आभ्यंतर कथ्यों और विषयों के लिए प्रायोगिक शैलियाँ प्रचलित थीं, सामाजिक विषय-वस्तु के लिए उनका प्रयोग नहीं किया जा सकता था। उनमें चेतना के प्रवाह की अभिव्यक्ति तो संभव थी, पर

घटनाबहुल, सक्रिय, क्रियाकलापों से भरी सामाजिक वास्तविकता को संश्लिष्ट रूप से व्यक्त करनेवाली संभावनाएँ न थीं। ऐसी स्थिति में जातीय स्रोतों से प्राप्त कथा-शैलियों को आधुनिक संदर्भ में उपयोग में लाकर भारतीय कथा-लेखकों ने, सामान्यतः बाङ्ला और हिन्दी के लेखकों ने विशेष रूप में, सार्थक प्रयोग किए।

रेणु ने अपने दो उपन्यासों में इस कथा-शिल्प के प्रयोग को रचनात्मक सार्थकता दी है। इस शिल्प में जहाँ उन्होंने ठेठ गप्पों—वार्त्ताओं का प्रयोग किया है और उनकी नाटकीयता का पूरा-पूरा उपयोग किया है, वहीं उन्होंने विवरण की 'क्लासिकल' शैली को चित्रात्मक रूप में उपयोग में लाकर उसे महज शब्द-श्रुत न रखकर संपूर्णतः गोचर बना दिया है—विशेषतः दृश्यात्मक! इसके साथ जॉर्नल की आत्मीय आंतरिक शैली की टीपें भी हैं। इस प्रकार रेणु का कथा-शिल्प अपने प्रयोग में इतना संश्लिष्ट और रासायनिक है कि उसका प्रभाव पाठक पर सीधा पड़ता है।

प्रेमचंद के युग में शहर बाहरी तत्त्व था। उसकी शक्तियाँ बाहरी थीं। फलतः गाँव-शहर एक नहीं बन पाते थे। प्रेमचंद की कथा में गाँव-शहर के अलगाव का स्पष्ट संकेत है, पर रेणु के गाँव में शहरी तत्त्व उतने बाहरी नहीं है। शहर आकर गाँव में पैर जमा चुका है। इस तरह केन्द्र में विच्युति नहीं है। यह एक विशेष लक्षित करने योग्य तथ्य है, जिसे आत्मसात् किए बिना हम रेणु के उपन्यासों की कथात्मक-संरचना को ठीक-ठीक नहीं समझ सकते। रेणु के उपन्यासों में दो कथाएँ समानांतर और परस्पर प्रतिमुख नहीं दिखाई पड़तीं, इसका रहस्य यही है।

गाँवों की सामाजिक वर्ग-संरचना की गतियाँ और शक्तियाँ बदली हैं। इस आवयविक संघटन का प्रभाव गाँवों के जीवन पर दूर तक पड़ता है। प्रेमचंद के गाँवों से रेणु के गाँव अपनी आवयविक संरचना में सर्वथा भिन्न हैं। ऊपर से भी और भीतर से भी। अगर कुछ नहीं बदला है, तो वर्ग-संबंध। वह अपनी वर्ग-विषमता में ही अधिक गहरा और विरूप है। सामाजिक प्रगति में शहरीकरण की प्रक्रिया का विशेष महत्त्व होता है। आधुनिक प्रक्रिया से गाँवों में परिवर्तन हुए और ग्राम-समुदायों के बदलाव पर उनका प्रभाव भी पड़ा, पर इस इतिहास को अगर हम यहाँ छोड़ भी दें, तो यह मानना पड़ेगा कि आज़ादी के बाद गाँवों में परिवर्तन की प्रक्रिया तेज़ हुई। यह परिवर्तन भीतरी न था। उसकी चालक शक्तियाँ एकदम गाँवों के भीतर की न थीं। ज़मींदारी उन्मूलन के बाद एक विचित्र स्थिति गाँवों में पैदा हुई। वर्षों से अनुपस्थित ज़मींदार और भू-स्वामी गाँवों की ओर लौटे। अपनी ज़मीन को अधिक-से-अधिक बकाश्त बनाकर उन्होंने आधुनिक खेती का श्रीगणेश किया। इसमें शहरी और सरकारी मदद का पूरा-पूरा उपयोग करते हुए उन्होंने लाभ भी उठाया। ऐसी स्थिति में गाँवों के वर्ग-संबंधों की विषमता का तेज़ होना स्वाभाविक है। कथा-शिल्प के प्रकरण में ये बातें अजनबी लग सकती हैं, क्योंकि हम अक्सर वास्तविकता और विषय से इसी तरह स्वतंत्र रहकर सोचते हैं।

समकालीन यथार्थवाद और रेणु का कथा-साहित्य

यह भी क्या आश्चर्य है कि भारतीय बृहत्तर यथार्थ के लिए ज़मीन एक आंचलिक उपन्यास से टूटती है। प्रेमचंद के बाद कथा-साहित्य के केन्द्र में मध्यवर्ग लौट आया था। मध्यवर्ग की इस वापसी ने शहरी जीवन की विविधता से उपन्यास साहित्य को अवश्य समृद्ध किया था, पर भारतीय यथार्थ की सीमाएँ वह न थीं। आज़ादी ने उन सीमाओं को और फैला दिया था। यद्यपि आज़ाद भारत की तस्वीर तीन पीढ़ियों के दिमाग़ में एक-सी न थी, पर सामाजिक परिवर्तन की एक सामान्य परिकल्पना तो उनमें थी ही। सर्वतोमुख विकास की संभावनाएँ जो भी रही हों, पर उसकी परिकल्पना कहीं-न-कहीं सारे भविष्य दर्शन में प्रायः एक रूप थी। आज़ादी विभाजन के साथ आई थी। यही नहीं, वह एक दुर्भाग्यपूर्ण द्वेष और क़ौमियत की सांप्रदायिक भावना से जुड़ गई थी। देश के दो अलग-अलग छोरों पर यह भीषण नर-संहार के रूप में प्रकट हुई थी, पर बीच के क्षेत्र में और विशेषतः गाँवों में इस विभाजन का कोई गंभीर परिणाम केवल अल्पसंख्य हिस्सों में ही दिखाई पड़ता था। वह भी एक अंतरंग भय के रूप में।

भारत के उत्तर-पूर्वी क्षेत्र में किसान आंदोलन, असहयोग और 1942 के क्रांतिकारी उफ़ान आदि के आधार पर यह कहना ग़लत न होगा कि इस क्षेत्र में गाँवों की धड़कन तेज़ थी। आज़ादी के बाद स्वाभाविक रूप से यह धड़कन एक जागरण की तरह प्रकट होने लगी थी। ज़मींदारी उन्मूलन और सर्वेक्षण के साथ पहली पंचवर्षीय योजना की शुरुआत तक इस जागरण के लक्षण प्रकट होते रहे थे, पर यह जागरण अंतर्विरोधों से मुक्त न था। इनके बावजूद गांवों में तीव्र हलचल दिखाई पड़ रही थी, चतुर्दिक् फैलती हुई। रेणु के प्रारंभिक दो उपन्यासों का कथा-विषय यही परिवर्तन है। आज़ादी के दौर में भी यद्यपि यह परिवर्तन गुणात्मक न था, पर परिमाणात्मक और भावनात्मक तो था ही। इस अर्थ में प्रेमचंद के गाँवों का सरोकार आज़ादी के बाद के उपन्यासों में नया आयाम ग्रहण करता दिखाई पड़ता है। जो लोग इस परिवर्तन को नज़रअंदाज़ कर रहे थे, वे शायद उसके चरित्र को भी काल-संदर्भ से विच्छिन्न करके देख रहे थे। जो भी हो, इस परिवर्तन का संबंध परिवर्तित होते हुए भारतीय यथार्थ के भौतिक आधारों से भी था और उसकी मानसिक उपरिसंरचना से भी था।

रेणु के उपन्यासों के साथ बृहत्तर भारतीय यथार्थ की एक नई संभावना उत्पन्न हुई थी। यह यथार्थ भारत का समकालीन यथार्थ था जो गाँव-शहर के विभाजन को तोड़कर उभरा था। इस यथार्थ का चरित्र संश्लिष्ट था। यह संश्लिष्टता अंतर्लयन की एक माँग थी—कम-से-कम ग्रामीण जनता के मन में यह संश्लिष्टता कुछ इसी प्रकार की थी। वह आशा करने लगी थी कि इस देश में जो कृत्रिम और सायास असंतुलन निरंतर पैदा किया गया है, वह आज़ादी के बाद दूर होगा। समकालीन यथार्थ का यह एक दूसरा पहलू था जो उसके चरित्र के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका की तरह लक्षित हो रहा था।

लोक-जीवन और यथार्थ की इस संश्लिष्टता को निकटतम इतिहास में शायद पहली बार नया आधार प्राप्त हुआ था। यह आधार, अंतर्विरोधों के बावजूद, प्रेमचंद और उनके युगीन आधार से भिन्न था। यह भिन्नता विचारधाराओं में प्रकट हो रही थी। विचारधाराएँ तेज़ी से भौतिक आधार पर प्रतिक्रिया करने लगी थीं। रेणु के उपन्यासों में यथार्थ की समकालीन जटिलता और अपेक्षित ताज़गी का कारण इसी प्रतिक्रिया करने की क्षमता में निहित है। क्रिया-प्रतिक्रिया करनेवाले इस विशाल जनजीवन की गतियाँ ऐसी न थीं, जिन्हें महत्त्वहीन कहकर टाला जा सकता हो। इन गतियों का इतिहास पर निश्चित प्रभाव पड़ रहा था। ऐसी इतिहास-गरिमा और साथ ही समकालीन यथार्थ को मूर्त्त करनेवाली कला का जन्म चाहे जिस छोर से भी हुआ हो, पर थी वह दूरगामी। मानवीय चेतना के भीतर इतिहास की इस करवट को मात्र भावनात्मक कहकर हम यथार्थवाद को कमज़ोर ही करेंगे।

इस प्रकार समकालीन यथार्थवाद की संभावनाएँ नए सिरे से आज़ादी के बाद प्रकट हो रही थीं। इस प्रक्रिया को आलोचनात्मक भाषा में जटिल भी बनाया जा सकता है, पर इस प्रकार की किसी जटिलता का प्रदर्शन किए बिना भी कहा जा सकता है कि इन तमाम क्रियाओं-अंतर्क्रियाओं और गतिविधियों के परस्परस्पर्शी आधार को इतिहास की एक घटना के रूप में देखने की आवश्यकता थी—यथार्थवाद के समीकरण को लक्षित करने की। यह केवल इतिहासकार के लिए ज़रूरी न था, उपन्यासकार के लिए भी ज़रूरी था। रेणु ने इस ज़रूरत की चुनौती को स्वीकार किया।

मेरी दृष्टि में समकालीन यथार्थवाद का अर्थ दो रूपों में अपने को प्रकट करता है; एक जनता और व्यवस्था के नए अंतर्विरोधों के रूप में और दूसरा, जनता के बीच के अंतर्विरोधों के रूप में। ये दोनों ही प्रकार के नए अंतर्विरोध हमारे समाज में आज़ादी के बाद प्रकट होते हुए एक नया सामाजिक अस्तित्व धारण कर लेते हैं। अतः इन अंतर्विरोधों के संदर्भ में ही हम आज़ादी के बाद की सामाजिक वास्तविकता की धारणा को स्पष्ट कर सकते हैं। कुछ मित्र भारतीय यथार्थवाद के नाम से इस सामाजिक अस्तित्व की ऐतिहासिक अवधारणा की व्याख्या करना पसंद करते हैं, किन्तु मेरी धारणा है कि यथार्थवाद कोई देशीय-क्षेत्रीय तत्त्व नहीं है, वह

एक ऐतिहासिक तत्त्व है और विश्व-इतिहास का अंग है। अतः उसे एकदेशीय तत्त्व की तरह देखना उसके चरित्र-विस्तार को सीमित करना होगा। दरअसल, भारतीय वास्तविकता को भारतीय यथार्थवाद के नाम से पुकारना उचित नहीं। इस आकर्षक नाम की आत्यंतिक सीमाएँ हमारे सामने स्पष्ट रहनी चाहिए।

इन दो विशिष्ट प्रकार के अंतर्विरोधों के भीतर से विकसित अवस्था को हम समकालीन यथार्थ की सीमा में लाकर यह दिखलाना चाहते हैं कि इनसे जो नई सामाजिक संभावनाएँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें ध्यान में रखकर हमें यथार्थवाद के अर्थ को परिभाषित करना होगा। यहीं से पश्चिमी बुर्जुवा यथार्थवाद और विकसित होते हुए जनगण के यथार्थ का अंतर्य प्रकट होने लगता है। पश्चिमी आलोचनात्मक यथार्थवाद का एक सीमित पहलू यह रहा है कि अंततः उसकी परिणति 'एकायामी मनुष्य' की वास्तविकता में होती है, जबकि हमारे यहाँ मनुष्य के सामाजिक भविष्य और यथार्थवाद की संभावनाएँ अभी जीवित हैं। यह भेद एक अर्थपूर्ण भेद है और इससे यथार्थ के स्वरूप में काफ़ी कुछ अंतर आ जाता है। यहाँ पहले इस आधार को ही स्पष्ट करने की चेष्टा की जाएगी।

विकसित होती हुई ग्रामीण वास्तविकता की संभावनाएँ अभी तीसरी दुनिया की वास्तविकता को निर्धारित करनेवाले तत्त्वों में गिनी जाएँगी। रेणु का साहित्य ही इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि एक पूरी धारा का उत्सर्जन इस दृष्टि से महत्त्व रखता है। इस कालखंड में कतिपय ऐसे उपन्यास हिन्दी में लिखे गए हैं, जिनके आधार पर हम समकालीन यथार्थ के कुछ नए गतिशील, संयोजक तत्त्वों की चर्चा कर सकते हैं।

आजादी के बाद व्यवस्था बदली, किन्तु उसके परिवर्तन का कोई मूलगामी तात्कालिक प्रभाव हमारे समाज पर न पड़ा। एक विचित्र प्रकार का शक्ति-संतुलन देश में कायम हुआ—जिसमें लक्ष्य तो किसी और क़िस्म के निर्धारित किए गए, किन्तु शक्तियों का अलगाव न होकर पुरानी शक्तियों का ही नया राजनीतिक संयोग हुआ। इस प्रकार नया समाज पुरानी शक्तियों के हाथों चलने को विवश होता रहा। नेतृत्व की घोषणाएँ कभी जनस्तर तक ठीक ठीक पहुँच न सकी।

जनता के बीच के अंतर्विरोध हल न हुए। इस प्रकार से एक दुहरे और दूरगामी अंतर्विरोध की प्रक्रिया में समकालीन यथार्थवाद का विकास हमारे यहाँ होता दिखाई पड़ता है। रेणु के *मैला आँचल* और *परती : परिकथा* की कथात्मक पृष्ठभूमि इसी समकालीन यथार्थवाद की पृष्ठभूमि है। यह यथार्थवाद समकालीन यूरोपीय यथार्थवाद से भिन्न है जिसका स्वरूप सामान्यतः या तो आलोचनात्मक यथार्थवादी है या फिर सामाजिक यथार्थवादी है। यूरोपीय पृष्ठभूमि में समाजवादी यथार्थवाद की एक धारा तेज़ी से जिस तरह विश्व के साहित्य में प्रकट होती है, उससे भी हमारी पृष्ठभूमि भिन्न है, यद्यपि इस धारा ने हमारे समकालीन यथार्थवाद को अर्थ और प्रेरणा दी है।

हिन्दी के कुछ आलोचक, लगता है, आकारिक अंतर्य से बाहर जाकर इस समकालीन यथार्थवाद का अर्थ पहचानना पसंद नहीं करते। उदाहरण के लिए निर्मल वर्मा इस यथार्थवाद (समकालीन) को इस रूप में स्पष्ट करने की चेष्टा करते दिखाई पड़ते हैं —

"एक अद्भुत ड्रामा हुआ! शायद ही किसी हिन्दी उपन्यासकार ने उपन्यास की 'नैरेटिव' परंपरा को झिंझोड़कर उसे प्रेमचंदीय ढाँचे से बाहर निकालकर इतना नाटकीय, इतना लचीला, इतना काव्यात्मक बनाया था जितना रेणु ने! और यह नाटकीयता, यह कविता अलंकारमय और कृत्रिम नहीं थी, क्योंकि परंपराग्रस्त किसान और आधुनिक ऐतिहासिक आंदोलन के बीच जिस मुठभेड़ को रेणु ने अपना विषय बनाया था उसके पहले से ही बारूदी नाटकीय (?) ढेर वर्तमान थे। उनमें सिर्फ़ दियासलाई लगाने की देर थी।" (*ऋणजल-धनजल*, भूमिका)

अपनी नाटकीयता की इस नाटकीय व्याख्या से आगे बढ़कर निर्मल वर्मा कहते हैं —

"रेणु ने जिस तीली से उदास, धूल-धूसरित क्षितिज़ में छिपी नाटकीयता को आलोकित किया था, उसी तीली से परंपरागत यथार्थवादी उपन्यास के ढाँचे को भी एकाएक ढहा दिया था। यह रेणु की एक अविस्मरणीय देन और उपलब्धि है। *मैला आँचल* और *परती : परिकथा* महज उत्कृष्ट आंचलिक उपन्यास नहीं हैं, ये भारतीय साहित्य के पहले उपन्यास हैं जिनमें अपने अमित ढंग से झिझकते हुए भारतीय उपन्यास को एक नई दिशा दिखाई थी, जो यथार्थवादी ढाँचे से बिल्कुल भिन्न थी। उन्होंने उपन्यास की नैरेटिव परंपरा को तोड़ा—उसे अलग-अलग एपिसोड में बाँटा था, जिन्हें जोड़नेवाला धागा कथा-सूत्र नहीं, परिवेश का ऐसा लैण्डस्केप है जो अपनी आत्यंतिक लय में उपन्यास को रूप और फार्म देता है।" (*उपरिवत्*)

रेणु ने जातीय संभावनाओं की उपन्यासों में नई तलाश की थी, उसे प्रेम-कथाओं, लोक-कथाओं, किंवदंतियों, विश्वासों और जनश्रुतियों से जोड़कर एक आकर्षक अंतरंग, और परिचित 'ह्यूमनस्केप' में बदलने का कलात्मक प्रयास किया था। मगर इससे 'आकारिक' प्रयोग के बाहर जाना संभव नहीं दीख पड़ता। रेणु ने समकालीन यथार्थ को इसी प्रक्रिया में एक नया अर्थ भी दिया है। हमारे लिए आकार से अधिक महत्त्व उस अर्थ का है, जिसने समकालीनता को इस अतीत की निरंतरता से जोड़ा था। निर्मल वर्मा की दृष्टि इस 'नाटकीय-साहचर्य' को पकड़ नहीं पाती।

रेणु का समकालीन यथार्थवाद अकेला न था, वह एक रचना-धारा की नई कड़ी अवश्य था। रेणु के पूर्व भी अनेक लेखकों ने अपने-अपने स्थान से इस समकालीन अर्थ को उपन्यासों में प्रकट किया था। नागार्जुन के *बलचनमा* में नाटकीयता तो न थी, पर समकालीन जीवन का एक अत्यंत तात्कालिक रंग अवश्य था। इसी प्रकार उसकी एक लय राजेन्द्र यादव ने अपने उपन्यास *उखड़े हुए लोग* में प्रस्तुत की थी। इनसे मिलकर समकालीन यथार्थ का एक रूप बनता है। भैरव प्रसाद गुप्त के

कुछ उपन्यासों में इसकी ठोस अभिव्यक्ति हुई थी। ऐसी स्थिति में रेणु के उपन्यासों की आकारिक संरचना से हमें भ्रम नहीं होना चाहिए। इससे रेणु की शैली का महत्त्व भी कम नहीं होता। वह अपनी सजातीयता और सजीवता में अपना स्थान बनाए रखकर ही हमारे लिए महत्त्वपूर्ण होती है।

व्यवस्था के अंतर्विरोध जिस तेज़ी से बढ़ते हैं, उससे ज़्यादा तेज़ी से जनता के बीच के अंतर्विरोध बढ़ते हैं। 'नाटकीयता' का एक स्रोत हमारे इस सामाजिक आधार में है। इस सामाजिक आधार की खोज किए बिना हम 'नाटकीयता' की सजातीयता की दुहाई देते रह जाएँगे। उसकी सजीवता केवल इसलिए नहीं है कि वह नाटकीय है, बल्कि इसलिए भी है कि यह नाटकीयता इतिहास की शक्तियों की टकराहट से उत्पन्न हुई है। वह अतीत की निरंतरता और वर्तमान अंतर्विरोधों के संदर्भ में नाटकीय बनती है। यह इतिहास के भीतर एक तीसरी दुनिया के जन्म की नाटकीयता है। यह तीसरी दुनिया एक विश्वक्रांतिकारी प्रक्रिया से जुड़कर और भी ज़्यादा नाटकीय हो जाती है—वह व्यापक मानवता की मुक्ति का नाटक प्रस्तुत करती है। मार्क्स ने उपनिवेशवाद के संदर्भ में लिखा है—'यह असंतोष औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध सभी महान एशियाई जनगण का आत्मप्रदर्शन है।'

बीसवीं शताब्दी की इस राष्ट्रीय मुक्ति की क्रांतिकारी प्रक्रिया का 'नाटक' इतिहास का आत्यंतिक नाटक भी है। कोई भी आकारिक आकस्मिकता इस इतिहास के नाटक से स्वतंत्र अस्तित्व रखती हो, यह मानना कदाचित् संभव नहीं है। भारतीय जनगण के मुक्ति-संघर्ष को और उससे उत्पन्न परिणामों को केवल 'आकारिक' खोज से समझ पाना असंभव है। रेणु के समकालीन यथार्थवाद में कथा और नाटक का संयोग महज आकारिक संयोग न था। इसे स्पष्ट कर लेने के बाद अब इस संयोग के आधार-तत्त्व की व्याख्या की जाएगी।

मैला आँचल में आजादी के आस-पास बदलते हुए ग्रामीण परिवेश का एक अत्यंत जटिल और सजीव स्वरूप खड़ा किया गया है। इस कृति से एक भ्रम का निराकरण तो हो जाना चाहिए कि इस जटिलता के कई दूसरे कारणों में एक कारण शहर-गाँव के अंतर्लयन की एक नई ऐतिहासिक संभावना भी शामिल है। शहर को जिस इकहरे ढंग से हम पूँजीवादी शक्तियों का प्रतीक मानकर इस प्रभाव को गाँवों पर बढ़ता हुआ पूँजीवादी प्रभाव मान लेते हैं, उसमें हमें इतना जोड़ लेना चाहिए कि शहर से ही पूँजीवाद विरोधी शक्तियाँ भी गाँवों में प्रवेश करती हैं और अपनी जड़ें जनता के साधारण वर्गों में उत्पन्न करती हैं। जनता के बीच नए अंतर्विरोध इस प्रक्रिया में ही जन्म लेते हैं।

मैला आँचल इस दृष्टि से नए देश में खेला जानेवाला एक ऐसा नाटक है, जिसमें मानव-मुक्ति की व्यापक संभावना है। आजादी के मुहिम पर वह भारतीय जनगण के जीवन का नाटक है, जिसमें तमाम विद्रूपों और असंगतियों के बावजूद धड़कते हुए जीवन का दबाव है। वह केवल 'छविमय' नहीं है, व्यापाररत समाज की

तस्वीर भी है। वह केवल नाटकीय नहीं है, उसकी नाटकीयता में जीवन की नई वास्तविकता है। इस प्रकार आज़ादी के आस-पास लिखा गया यह लोकवृत्त अपनी नाटकीयता को वास्तविक आधार से जोड़ता है। अतीत की निरंतरता की पृष्ठभूमि सर्वथा व्यतीत का अंग नहीं है। उसमें पर्याप्त जीवित जातीय तत्त्व वर्तमान हैं।

मैला आँचल जनजीवन के बीच उभर आए नए अंतर्विरोध के साथ-साथ अनेक शक्तियों के पुनर्गठन और विघटन की मार्मिक कथा भी है। इस तथ्य को नज़रअंदाज़ कर घटित के नाटकीय मर्म को भी ठीक-ठाक लक्षित कर पाना असंभव हो जाता है। उदाहरण के लिए जब एक ही झटके में निर्मल वर्मा यह कहते हैं कि प्रेमचंदीय कथात्मक ढाँचे को तोड़कर रेणु ने यथार्थवाद को एक नई पहचान दी है, तो इसकी ध्वनि कुछ और हो जाती है। वस्तुतः कथात्मक ढाँचे और नाटकीय ढाँचे की बातें प्रासंगिक और ऊपरी तौर पर चामत्कारिक ढंग से प्रभावशाली भी मालूम पड़ती हैं, पर प्रश्न यह नहीं है—नागर जी के उपन्यासों में दोनों तरह के ढाँचे हैं। अपने-अपने परिवेश की अधिकतम नाटकीयता का उपयोग दोनों लेखकों ने किया है, पर रेणु में ऐसी कौन-सी बात है, जो समकालीन यथार्थ के व्यापक प्रतिरोपण के लिए इतनी उपयोगी हो जाती है? इस तथ्य को उजागर करने के लिए प्रतिवेशी तथ्यों की ओर नजर दौड़ानी पड़ती है।

रेणु का *मैला आँचल* केवल नाटकीयता के कारण प्रभावशाली नहीं है। उसमें इतिहास और जनता के नए जीवन-संबंधों के बनने-टूटने की एक लंबी प्रक्रिया है, जिसका यथार्थ अपनी नाटकीयता में इतना महत्त्वपूर्ण हो गया है। उसमें जनता और व्यवस्था के लिए अंतर्विरोधों का एक नया 'देश' है और इस देश पर प्रतिक्रिया करता हुआ 'काल' भी नया है। देश-काल की इस नवीनता को भीतर-बाहर से पहचानने में, उसकी छटपटाहटों को पकड़ने में और उसके संघर्षों को मूर्त करने में *मैला आँचल* की शक्ति छिपी है। एक प्रकार की समग्रता उसकी प्रतिवेशी शक्तियाँ निर्मित करती हैं, एक प्रकार का नया संतुलन इस यथार्थ की परिणति है।

मैला आँचल के प्रथम दृश्य का उद्घातक ही अपनी नाटकीयता में इस नए शक्ति-संतुलन की पहचान को स्थापित करने के लिए प्रयुक्त है, पर किस क़ीमत पर? सन् बयालीस की क्रांतिकारी 'जनता' बालदेव को पकड़कर ला रही है क्योंकि वह एक बाग़ी रह चुका है। इससे अधिक इस जनता के ज़ेहन में और कोई तस्वीर नहीं है क्या? और यही जनता बालदेव को नेता बना देती है, क्योंकि सरकारी अमले उसे जानते-पहचानते हैं। यह नाटकीयता सुखद नहीं है। इसकी तुलना में, *शतरंज के मोहरे* की पुकार—फ़ौजें आवति हैं—देर तक कानों में बनी रहती है। अवश्य ही बालदेव प्रसंग का यह दृश्य अतिरंजित, प्रगीतहीन और नाटकीयता के नाम पर एक प्रकार का मज़ाक़ है। मगर इसके बाद की कथा ज़्यादा गहरी और कवित्वमय है। 'ऐसा ही एक गाँव है मेरीगंज' से कथा का यह कवित्व-प्रवाह प्रारंभ होकर निरंतर बहता जाता है, अपनी धारा में गहराता हुआ, अपने वेग में अधिकतर प्रखर होता

हुआ। वस्तुतः नाटकीयता की अपेक्षा कथा और प्रगीत का यह मिला-जुला स्वर प्रत्यक्ष भी है और ज़्यादा मर्मस्पर्शी भी है।

मैला आँचल डबरे पर सूरज के बिम्ब की तरह ही काव्यात्मक है। *मैला आँचल* पढ़ते हुए बार-बार मुक्तिबोध के उस निबंध की याद आना स्वाभाविक है, जिससे उसकी लाक्षणिकता की परतें दिमाग़ में खुलीं और उस मूड को पकड़ने में सुविधा जान पड़ी, जो किसी रचना में लय की तरह प्रकट होता है। अलग-अलग छाया-छवियोंवाले इस बिम्ब को लाक्षणिकता के साथ पारदर्शी बनाया जा सकता है। पर इस काव्य-बिम्ब में इतिहास की एक घटना का संकेत भी है। कुरूप वास्तविकता पर आज़ादी का प्रकाश! इस प्रकाश में यह कुरूपता भी पारदर्शी हो जाती है। ठहरे हुए जल को तीखी किरणें तोड़ती हैं। मेरीगंज का यह डबरा भी चालीस वर्षों बाद अचानक पारदर्शी हो गया है। उस पर सूरज का प्रकाश लंब की तरह पड़ रहा है—काई को तोड़ता हुआ!

स्पष्ट है कि *मैला आँचल* की नाटकीयता में अनेक तत्त्व एक-दूसरे में घुल-मिल जाते हैं, पर नाटकीयता इस अंतर्लयन से अलग कोई पहचान नहीं बना पाती, यह भी सही है। जनता के बीच के अंतर्विरोधों को प्रकट करने के लिए इस नाटकीयता के अतिरंजित और प्रकृत दोनों ही रूपों का लेखकों ने उपयोग किया है। अतिरंजनाएँ अतिकाय नहीं हैं। छोटी-छोटी अतिरंजनाओं का यह क्षेत्र सचमुच ही आकर्षक बनता चला जाता है। यथार्थ और अतिरंजना के कलात्मक उपयोग पर जार्ज लुकाच द्वारा छेड़ी गई दिलचस्प बहस का हवाला देकर कुछ बातें अवश्य कही जा सकती हैं। रूपक और अतिरंजनाओं के समकालीन स्वरूप पर विचार करते हुए लुकाच यह दिखलाना चाहते हैं कि मध्ययुगीन धर्म-रूपकों और कथात्मक अतिरंजनाओं में समकालीन रूपक और अतिरंजनाएँ इस अर्थ में भिन्न हैं कि उनमें लक्षित विषय भिन्न हैं, पर भिन्न लक्षित विषयों के बावजूद रूपक और अतिरंजनाएँ अपने अभिहितार्थ में देश-काल से स्वतंत्र सत्य को प्रकट करती मालूम पड़ती हैं।

रेणु ने समकालीन यथार्थवाद के लिए न कोई ऐसा रूपक ही गढ़ा है और न उनकी अतिरंजनाएँ ही ऐसी हैं, जिनके द्वारा किसी स्थिर सर्वव्यापी मानवीय नियति को लक्षित किया गया हो। इतिहास के सत्य को रूपक की आवश्यकता शायद नहीं होती। इतिहास के समीकरण के लिए रूपक का जाल फैलाना रेणु को अवश्य ही *मैला आँचल* में इष्ट नहीं है। अतः *मैला आँचल* की छोटी-छोटी अतिरंजनाओं को हमें ग्रामीण जीवन के यथार्थ—नाटकीय यथार्थ—के रूप में ही ग्रहण करना होगा। ये अतिरंजनाएँ दृश्य के उभार में, प्रतिक्रियाओं के नियोजन में, वक्ता या कर्त्ता के व्यक्तित्व में संयोजित नाटकीय तत्त्व हैं। इनसे ज़्यादा इन्हें लेखक महत्त्व नहीं देता।

कला-मूल की ओर लौटते हुए समकालीन यथार्थ के एक विस्तारित पहलू पर विचार करना अपेक्षित हो जाता है। जनता के बीच बढ़ते हुए इन अंतर्विरोधों की

पहचान क्या है? जनता की सामान्य विचारधारा के भीतर और उसी अनुरूप उनकी भावधारा के गहरे परिवर्तनों को स्पष्ट करने में ही इनकी पहचान अंतर्निहित है। ये विचारधाराएँ और भावधाराएँ किसी नए प्रतिवेशी यथार्थ को जन्म देती हैं, यह प्रश्न कई संदर्भों में रखकर देखे जाने पर ही संगत रूप में हमारे सम्मुख आ सकता है।

भारतीय उपमहाद्वीप ही नहीं, बल्कि संपूर्ण एशियाई-अफ्रीकी जनगण इस कालखंड में मुक्ति-आंदोलनों के एक नए संदर्भ में परिचालित जनगण हैं। ऐसी स्थिति में उनके क्रांतिकारी तत्त्वों को पहचानना हमारा कर्तव्य है। इस महान आकांक्षा का लक्ष्य केवल राष्ट्रीय मुक्ति से सीमित नहीं होता था। उसकी ओर भी सुदीर्घ कल्पनाएँ थीं, जिनमें राष्ट्रीय जनतंत्र के पुनर्गठन का प्रश्न भी शामिल था, पर तात्कालिक लक्ष्य स्वतंत्रता ही थी। इस लक्ष्य की प्राप्ति के साथ-साथ जो समस्याएँ उत्पन्न हुई थीं, उनसे जनता की भविष्य-कल्पना की अनेक सीमाएँ प्रकट होने लगी थीं। अपनी ही भविष्य-कल्पनाओं को साकार करने की सफल लड़ाई लड़नेवाले इस जनगण की राजनीतिक वास्तविकता ही नहीं, बल्कि सामाजिक अस्तित्व की चेतना भी बदल रही थी। सामाजिक अस्तित्व की इस बदलती हुई चेतना का संदर्भ *मैला आँचल* की विचारधाराओं तथा भावधाराओं के अंतर्य में जिस व्यापकता के साथ—नाटकीय व्यापकता के साथ—प्रकट होता है, उसपर ध्यान जाना स्वाभाविक ही है। *मैला आँचल* सामाजिक चेतना के अंतर्य का एक तीखा और प्रौढ़ उपन्यास तो है ही, चाहे उसकी और जो भी सीमाएँ हों। यह संपूर्ण व्यवस्था (विश्व-व्यवस्था) के अंतर्विरोधों का परिणाम था या जनता के अपने बीच के अंतर्विरोधों का भी उसमें कोई सहयोग था, यह प्रश्न हमारे सामने है।

सामाजिक-आर्थिक एकीकरण की इच्छा और भावना के विस्तार में क्या यह लक्षित नहीं होता? इस एकीकरण की भावना के पीछे एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण चालक शक्ति है जनाकांक्षा। दूसरे, लाक्षणिक विशेषता के रूप में हम गतिशीलता को ले सकते हैं। वस्तुतः यह भावना एक गतिशील भावना है, जिसका लक्ष्य भविष्य का सामाजिक स्वरूप है। *मैला आँचल* में इस गतिशीलता को उसके विरोधों के भीतर सक्रिय रूप में प्रस्तुत करके लेखक ने समकालीन यथार्थ के सामान्य रूप को प्रतिष्ठित किया है। गाँव की जनता में राष्ट्रीय जीवन से एकीकरण की सामान्य आकांक्षा विकसित होती दिखाई गई है, पर यह लक्ष्य भी सर्वथा एकात्मक रूप में संघटित नहीं है। अनेक राजनीतिक दृष्टियों में यह आकांक्षा बँटी हुई है। गाँधी की हत्या और गाँधी-युग की समाप्ति का समीकरण उतना 'नादान' नहीं है, जितना उसे मान लिया जाता है। गाँधीजी के लिए आँसू बहाकर हमने अपने भीतर से भी उन्हें निकाल दिया। 'बाबा वामनदास और बालेदव' इस निष्करुण व्यवस्था के परिणाम हैं।

मैला आँचल का समाज व्यापाररत समाज है। सामाजिक और अन्य प्रकार के व्यापारों और क्रिया-कलापों में लगी हुई जनता की ज़िन्दगी को गाँव के केन्द्र में रखकर देखने की दूसरी अहमियत भी है। गाँव, जो कभी नदी के द्वीपों की तरह अलग-अलग, निरीह लगा करते थे, उनसे एक विशाल धारा और शक्ति का उत्सर्जन हो रहा था। समकालीन यथार्थ के इस अर्थ को *मैला आँचल* सबसे ज़्यादा सार्थक रूप में और कलात्मक प्रभावशीलता के साथ व्यक्त करता है। इन गाँवों ने पहली बार ऐसी ऐतिहासिक शक्ति या धारा का उत्सर्जन नहीं किया था। पूर्वी सामंती साम्राज्यों के रूप में अतीत में भी ऐसी धाराओं का उत्सर्जन हो चुका था। इस बार जनता की सक्रियता और उसके हस्तक्षेप से एक नई जनतांत्रिक धारा का उत्सर्जन हुआ।

आज़ादी के साथ इतिहास का एक और दौर प्रारंभ हो गया था। छोटे-छोटे सवालोंवाली दुनिया फिर से महत्त्वपूर्ण भूमिका में सामने आ गई थी। परिवर्तन की छटपटाहट में प्राण-शक्ति थी। वह शायद हमारे राष्ट्र के जन्म की छटपटाहट थी जिसके साथ देश-काल-जन का भविष्य जुड़ा हुआ था। जनता संघटित न थी। जन-संघटनों पर कांग्रेस का अधिकार तो था, पर धीरे-धीरे उसका टूटना प्रारंभ हो गया था। इस विशाल देशवाले राष्ट्र की राजनीतिक बनावट एक सी न थी। कुछ क्षेत्रों में, विशेष करके ग्रामीण क्षेत्रों में, बदलती हुई राजनीतिक स्थितियाँ सीधे प्रतिकृत नहीं हो रही थीं, पर उनमें राष्ट्रीय प्रक्रिया की गतिविधियों का प्रवेश हो रहा था।

गियान बालदेव और वामन दोनों को ही समय पीछे छोड़ता चला जा रहा था। कालीचरण वासुदेव को राह-घाट में समझाता है—'सुसलिंग पार्टी! यही पार्टी असल पार्टी है। गरम पार्टी। किरांतीदल का नाम सुना था?···वही पार्टी! इसमें कोई लीडर नहीं। सभी, सभी लीडर हैं। सुना नहीं। हिंसा बात तो बुरजुआ लोग बोलता है। बालदेव जी तो बुरजुआ हैं, पूँजीवादी हैं।···इस क़िताब में सबकुछ लिखा है। बुरजुआ, पेटी बुरजुआ, पूँजीवाद, पूँजीपति, ज़ालिम ज़मींदार, कमानेवाला खाएगा, इसके चलते जो कुछ हो।'

जनता के बीच के ये राजनीतिक अंतर्विरोध एक राष्ट्रीय इतिहास की मंज़िलों को प्राप्त करते हैं या नहीं, यह एक दूसरा सवाल है; पर राष्ट्रीय इतिहास की एक नई शुरुआत के लिए तो इन्हें समकालीन मानना पड़ेगा। गाँवों में वामपंथी शक्तियों के प्रवेश का प्रारंभ '30 के आसपास प्रारंभ होता है और अगले बीस वर्षों में किसान-आंदोलन की गर्म लहर सारे देश में फैलती है। '39 में अखिल भारतीय किसान सभा का राष्ट्रीय अधिवेशन अपनी अलग पहचान बनाता है। '46 में सोशलिस्ट पार्टी बनती है और भावनात्मक शक्ति के साथ इसका प्रवेश गाँव की राजनीति में होता है। कम्युनिस्ट पार्टी का प्रभाव भी गाँवों में दिखाई पड़ता है। पार्टियाँ चाहे जिस रूप में भी सक्रिय हों, राजनीति में विविधता की शुरुआत होती है। कांग्रेस के अतिरिक्त स्थानीय विकल्प पैदा होते हैं। इन स्थानीय विकल्पों का उत्पन्न होना, इनकी इकाइयों का संयोजन भारतीय राजनीति के इतिहास में एक समकालीन घटना है।

जनता की सामान्य विचारधारा का नया संयोजन इसी क्रम में धीरे-धीरे, किन्तु दृढ़ता के साथ होता है। सोशलिस्ट पार्टी की सभा होती है। इसकी ख़बर ने संथाल टोली को विशेष रूप से आलोडित किया है। समाज के सबसे पिछड़े और प्रायः बाहरी हिस्से को इस ख़बर ने इतना आलोड़ित क्यों किया है? अस्पताल खुलने से तो इनमें कोई नई लहर नहीं आई थी। शायद आधुनिक जीवन-पद्धति के प्रति परंपरित उदासीनता इसका कारण हो, पर इस सभा में ऐसा क्या है जो उनकी जीवन-पद्धति से जुड़ा हुआ है, उनके सामाजिक अस्तित्व के लिए प्रासंगिक है। 'ज़मीन जोतनेवालों की'! इस नारे ने इस श्रमिक आदि जनों तक को अपना अर्थ दिया है। वस्तुतः यह नारा नहीं, उनके सामाजिक अस्तित्व की घोषणा है। कर्तव्यनिष्ठ और मेहनती संथालों के दिमाग़ की मुद्दत से उलझी हुई गुत्थी का सही सुलझाव।

'चारों ओर स्वस्थ, सुडौल, स्वच्छ और सरल इंसानों की भीड़।' विरसा माँझी इस नारे को गीत में गा रहा है। जन-भावना से उसे एक करने की कोशिश में है। 'जाहिरे जोतिबे, सोइरे बोइबे.....'। सनियाँ मुरमू, कालीचरण की हर बात पर खिलखिलाकर हँसती है। इस हँसी में न व्यंग्य है, न विद्रूप। इसमें मन का एक सरल उल्लास है जो ज़िन्दगी की करवट लेती हुई हरकतों का उल्लास है। जन-आंदोलनों की पहली लहर का स्पर्श। मंदिर पर संथाली गति! जैसे कोई मांगलिक उत्सव हो! धरती-पुत्रों की इस भावनात्मक करवट में समय के सारे अदृश्य लेख पढ़े जाते हैं!! ज़मींदारों ने किसी समय इनकी सस्ती (बेदाम) श्रमशक्ति और सरल सहकारिता का खूब उपयोग किया था अब यह श्रम-शक्ति अपने हित में सक्रिय हो रही है।

जंगलों में बसे हुए इन जनों ने परती तोड़ी थी। देश की परती तोड़कर इन धरती-पुत्रों ने अन्न उत्पन्न किया था। मगर इनकी सामाजिक हैसियत सामान्य किसानों की भी बन न पाई थी। इस कठोर अनुभव ने उनके अस्तित्व की चेतना में घर किया था। ज़मींदार, निलहे साहब सब मिलकर इनका शोषण कर रहे थे। शोषण की इस प्रक्रिया से अपरिचित इंसान भी शोषण के सिद्धांतों से परिचित थे। उनमें इस नारे की वास्तविक प्रक्रिया हुई थी और वे मरने-मारने को उठ खड़े हुए थे। कृषक श्रमिकों—दासों—के विद्रोह की कथाएँ इतिहास में अपरिचित नहीं हैं। पूर्णियाँ के संथाल जाग रहे थे, छोटा नागपुर के आदिवासी समाज में हलचलें हो रही थीं, बंगाल में भू-श्रमिक संथाल किसानों के साथ संघटित होने लगे थे, तेलंगाना के किसान-संघर्ष की हवा इधर भी आ रही थी।

इन घटना-क्रमों का एक राष्ट्रीय परिदृश्य उभर रहा था और हमारे समकालीन यथार्थ का एक बदलनेवाला पहलू बन रहा था। इन घटना-क्रमों को नज़रअंदाज करके भारतीय यथार्थ की समकालीनता को समझा नहीं जा सकता। ज़मींदारों ने वास्तविक काश्तकारों को भूमि-व्यवस्था से उच्छेदित कर दिया था। वे वस्तुतः भूस्वामियों की तरह स्वतंत्र थे। किसान-संघर्ष की पृष्ठभूमि में इस आर्थिक नियोजन

को भी शामिल करना चाहिए। इस व्यवस्था ने गाँवों को और दरिद्र बनाया था—आर्थिक रूप में भी और सामाजिक रूप में भी। गाँवों का सामाजिक जीवन इस नई सामंती अर्थतंत्र की पीड़ाएँ झेल रहा था। आज़ादी के बाद भी सामाजिक वर्गों के इस हिस्से की आशाएँ पूरी न हुई थीं। अतः ज़मीन जोतनेवाले के नारे के साथ श्रमिक जनता की भावना अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई थी। इस लहर ने सामान्य कृषक जनता को अपनी ओर तेज़ी से खींचा।

गाँव-गाँव में लाल झंडे की लहर व्याप गई। किसान राज क़ायम हो। मज़दूर राज क़ायम हो! 'रामराज' के विकल्प के रूप में यह नारा ज़्यादा वास्तविक था। मगर इस वास्तविकता की पहचान अभी होनी थी। इस पहचान की अपनी स्थितियाँ थीं। इतनी ही अपने आप में एक क्रांतिकारी प्रक्रिया की शुरुआत के लिए पर्याप्त था। इस वर्ग के अपने ही संस्कार इस वास्तविकता से टकरा जाते थे। इंसान के ख़ून से रँगे हुए लाल झंडों को लेकर वैष्णव आत्मा को अब भी क्लेश हो रहा था। नाटकीय यह है, पर यह नाटक जीवन का एक विचित्र हिस्सा बना हुआ है।

इस महान् और विचित्र देश का उद्धार ब्रिटिश जुए को उतार फेंकने के बाद भी न हुआ था। उसे भारत की वर्तमान व्यवस्था ने भी तोड़ा न था। ज़मींदारी के खात्मे का नारा वास्तविक स्तर पर कार्यकारी साबित न हो सका। अनुभव ने बताया कि नए ज़मींदार पैदा हो रहे हैं और उनका स्वार्थ पुराने ज़मींदारों से किसी प्रकार भी भिन्न नहीं है। फिर भी स्थिति में दरारें पैदा हो गई थीं। लोग अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो रहे थे। भूमिसंबंधी हितों की लड़ाई को अब बचाया न जा सकता था। *मैला आँचल* का समकालीन यथार्थ हमें यहाँ तक ले आने में समर्थ होता है। क्रांति का आह्वान बाहर-भीतर से किया जाना भावधारा के भीतर का एक गहरा परिवर्तन लक्षित करा रहा था। परंपरित मानस की निःसहायता टूट रही थी। गाँवों में इस क्रांतिकारी पक्ष में कई नई राजनीतिक शक्तियाँ पैदा हो गई थीं—सोशलिस्ट, कम्युनिस्ट आदि। इस क्रांतिकारी प्रक्रिया के अंतर्विरोधों में सबसे बड़ा अंतर्विरोध था जनता के बीच का विभाजन। अपनी मानसिकता और भावना में यह जनता एक न थी। मूल समस्या इस जन को विचार और भावना से एकताबद्ध करने की थी। इस समस्या की ओर इतिहास का तर्क हमें ठेल रहा था।

शहर-गाँव के नए समीकरण की एक तस्वीर *मैला आँचल* में भी है, पर वह असहयोग युग की तस्वीर से भिन्न है। असहयोग युग में कार्यकर्त्ताओं से यह सेतु बनता था। आज़ादी के साथ नए सेतुवासी तत्त्व उत्पन्न हुए। अस्पताल, संचार के मार्ग, अंचल विकास परियोजनाएँ और पंचवर्षीय योजनाएँ नए तत्त्वों के साथ गाँव में प्रवेश कर रहे थे। जंगलों पर सरकारी नियंत्रण होने जा रहा था। इस प्रकार इस बार शहर का गाँव पर चौतरफ़ा हमला शुरू हो गया था। इसने गाँवों की जड़ता को तोड़ा था। शिक्षा के नए आधार अवश्य गाँवों की शक्ल को बदलने में भीतर से प्रभावकारी हो रहे थे। एक प्रकार का जनतंत्र इनके साथ भी जुड़ा था, पर इस

जनतंत्र के साये में अन्य सांप्रदायिक शक्तियाँ भी पनप रही थीं। उनके लिए देश का भविष्य धर्म-समुदाय के भविष्य के बाहर न था। इस प्रकार लोकस्तर पर कई विचारधाराएँ एक साथ सक्रिय हो रही थीं।

सुमिरित दास के अलावा एक बेतार का तार गाँव में आ गया था जो स्थानीय से बड़ी ख़बरें देता था। पहली बार राष्ट्र के साथ गाँव भौतिक रूप में, दैनंदिन जीवन में, जुड़ रहा था। मेरीगंज की काया में देश प्रवेश कर गया था। इस समकालीन यथार्थ को *मैला आँचल* अपनी पूरी छविमयता से तो प्रतिबिम्बित करता ही है, साथ ही उसके व्यवहारगत परिवर्तनों को भी साकार करता दिखाई पड़ता है। हम जानते हैं कि किसी भी प्रकार के परिचलन क्षेत्र में संरचनाओं की सीमाएँ बदलती हैं। गाँव की सीमाएँ भी इसी नियम से बदल रही हैं। मगर इस बदलाव को भी सामान्य लोग संदेह और भय की दृष्टि से ही देख रहे थे। ऐसे लोगों का प्रतिनिधित्व करनेवाले गाँव के ही पुराणपंथी तत्त्व थे। जोतखी काका को इस तमाम बदलाव में संभावित नाश की छाया दिखाई पड़ रही थी। उनके इस विश्वास की हिस्सेदार सिर्फ स्त्रियाँ ही नहीं, गाँव के पुरुष वर्ग के लोग भी हैं।

इस प्रकार 'मेरीगंज' हमारे समकालीन यथार्थ का केन्द्र बन जाता है। अवश्य ही हर गाँव इस केन्द्रीय महत्त्व को प्राप्त करने की स्थिति में न था। आज भी क्षेत्रीय असंतुलन बना हुआ है और किन्हीं अर्थों में और भी बढ़ता हुआ दिखाई पड़ रहा है। विशाल हिन्दी-क्षेत्र में तो इसकी संभावनाएँ भी अधिक हैं। बहरहाल 'मेरीगंज' और उसके अंचल के इस परिवर्तन को इतिहास की एक कड़ी की तरह ही ग्रहण किया जा सकता है। मेरीगंज की वास्तविकता यह सिद्ध करती है कि गाँवों में मालिकों तथा अन्य ग्रामीण शोषकों के सभी प्रकार के अत्याचारों के बढ़ते हुए प्रतिरोध का समय आ गया है।

किसानों की वर्ग-स्थिति और वर्ग-चरित्र को लेकर उनकी क्रांतिकारी भूमिका के प्रति अब संदेहात्मक दृष्टिकोण व्यक्त नहीं किया जा सकता। विशेषकर तीसरी दुनिया के संदर्भ में तो कृषक समाज की परिवर्तनकारी भूमिका को प्रायः सभी वामपंथी विचारधाराओं ने स्वीकार कर लिया है, पर किसानों के बीच जो सामाजिक अंतर्विरोध हैं, वे उनके वर्ग-चरित्र के इस रूपांतरण की पृष्ठभूमि में *बलचनमा* के साथ पहली बार आए हैं। आवश्यकता इस बात की है कि इस रूपांतरण की कठिनाइयों की ओर भी नज़र दी जाए। किसान क्रांतिकारी नहीं होता, किसान मज़दूर वर्ग के नेतृत्व में ही क्रांतिकारी भूमिका संपन्न कर सकता है और किसान अकेला कृषि क्रांति में समर्थ है—इन तीन अलग-अलग धारणाओं में किसी समय वैकल्पिक चुनाव संभव था, पर आज यह सर्वमान्य है कि भारतीय (एशियाई) संदर्भ में कृषि-क्रांति की संभावनाएँ भी अन्य जनगण के क्रांतिकारी तत्त्वों से एक होकर ही सार्थक हो सकती है। *मैला आँचल* में किसानों के साथ मज़दूरों के नारे भी इसी सार्थकता की ओर संकेत करते हैं।

फ्रांत्स फेनों की पुस्तक *अभिशप्त भूमि* (*लेदामने दला तेरे*) की कृषि-क्रांति से *मैला आँचल* की वास्तविकता भिन्न है, इसे अनेक शब्दों में कहने की आवश्यकता नहीं है। किसानों का आधार-चरित्र बदले बिना कृषि-क्रांति भी अधूरी रह जाएगी। किसान जनता के भीतरी अंतर्विरोधों का चित्रण करके रेणु ने प्रायः इसे स्वीकार किया जान पड़ता है। किसानों की सामुदायिक परंपराएँ अकेली उन्हें एकबद्ध करने में राजनीतिक रूप से असमर्थ है।

रेणु ने *मैला आँचल* में संथाल-संघर्ष के संदर्भ में इस तथ्य को लक्षित ही नहीं किया है, बल्कि उसके राजनीतिक कारणों का संकेत भी किया है। मेरीगंज के संथाल सशस्त्र संघर्ष में उतर तो आते हैं, पर उनका कोई सांगठनिक आधार नहीं है। फलतः वे बुरी तरह मारे जाते हैं और उनका आंदोलन दमन का शिकार हो जाता है, पर इससे इतना तो सिद्ध हो रहा है कि गाँव का छोटा ग़रीब और अर्द्धसर्वहारा किसान स्वतःस्फूर्त ढंग से सामंत विरोधी, पूँजीपति विरोधी होता जा रहा है। ऐसे स्वतःस्फूर्त आंदोलन अपनी लाक्षणिकता के लिए अवश्य ही ध्यानाकर्षक है।

इस आधार के साथ उपरिसंरचना के क्षेत्र में अधिक व्यापक परिवर्तनों को *मैला आँचल* में चित्रित किया गया है। गाँवों की भावधारा की संरक्षणशीलता से इंकार नहीं किया जा सकता। पर यह संरक्षणशीलता परम तत्त्व नहीं है। इतिहास के क्रियाकलापों के भीतर यह भावना भी टूटी है। आज गाँव की उस संरक्षणशील भावधारा में भी दरारें पड़ गई हैं। ये दरारें राजनीतिक प्रभाव के कारण और भी चौड़ी होती जाएँगी। मगर इनके क्रांतिकारी रूपांतरण की संभावनाएँ क्या हैं? रेणु इन संभावनाओं की पहचान पूरे कथाक्रम में करते दिखाई पड़ते हैं। ये घटनाएँ जो गाँव के जीवन की भावधारा में परिवर्तन ला रही है, कोई बड़ी घटनाएँ नहीं हैं। कोई सामाजिक आंदोलन इन घटनाओं की पृष्ठभूमि में नहीं है। फिर भी सबकुछ बदलता दिखाई पड़ता है। नई पीढ़ी की क्रिया प्रतिक्रियाएँ इस संदर्भ में विशेष रूप से ध्यान में आती हैं, जिनमें यह बदलाव एक विचार-शक्ति के रूप में भौतिक क्रियाकलाप बन जाता है। यह परंपरागत भावना एक बृहत्तर सामाजिक संस्था की तरह गाँवों में कार्य करती रही है, इसका टूटना एक लक्षण है, सांकेतिक, फिर भी महत्त्वपूर्ण।

भीतरी स्रोतों से सारे यथार्थ को जोड़ने की जो चेष्टा यथार्थवाद के नाम पर बाद के उपन्यासों में बढ़ती दिखाई पड़ती है, उसे लगभग अलग रखकर *मैला आँचल* लिखा गया है। ये भीतरी स्रोत अवचेतन में समस्त मानवीय यथार्थ को क़ैद करते हैं। गाँव के जीवन में ऐसे भीतरी स्रोत 'अवचेतन' के उतने नहीं, जितने सामाजिक विश्वासों और संस्कारों में हैं। इस प्रकार से अवचेतन से वर्गीकृत चरित्रों की अपेक्षा *मैला आँचल* के पात्र 'आर्कटाइप' हैं। ये 'आर्कटाइप' भारतीय ग्राम-समाज के हैं और इनके प्रतिरूप शहरी समाज में शायद ही मिल पाएँगे। अभी इनकी चर्चा को यहीं छोड़कर हम भावधारा के रूप में ही इनकी अंतःसत्ता को पहचानें। यह अंतःसत्ता एक सामाजिक निरंतरता की जड़ता से पीड़ित है ज़रूर, पर बाहरी

शक्तियाँ उस पर इस तेज़ी से क्रिया कर रही हैं कि उसका टूटना प्रायः निश्चित है। यह भावधारा एक सामाजिक विकास के स्तर पर ठहरी हुई दिखाई पड़ती है। पर घटनाएँ इस तरह घटित होती रहती हैं कि उन परंपरित विश्वासों और पद्धतियों पर भी चोटें पड़ती हैं। प्राचीन विचार और रूढ़ का सामाजिक संस्थाओं का साथ-साथ क्षरण हो रहा है।

गाँव में हस्पताल खुला है। यह क्षेत्र अपने कालाजार और मलेरिया के लिए प्रसिद्ध है। इस संस्थान को शक की निगाह से देखा जा रहा है, पर जब शासकवर्ग ही उपयोग कर रहा हो, तो सामान्यजन की शंका धीरे-धीरे समाप्त हो जाती है। अगर तहसीलदार की बेटी का इलाज हस्पताल का डॉक्टर कर सकता है तो दूसरे भी उसकी सेवाएँ प्राप्त कर सकते हैं। यह अनुभव का बेहद सीधा-सा निष्कर्ष है। इस उपयोगी संस्था का उपयोग यद्यपि संथाल नहीं करते फिर भी इससे इसकी व्यर्थता सिद्ध नहीं हो जाती। जंगलियों को मलेरिया कालाजार नहीं होता। इस हस्पताल से कथा का मूल साहचर्य है। गाँव बदल रहा है, इसका लक्षण है गाँव की धरती पर इन संस्थानों का उदय।

डॉक्टर छुआछूत नहीं मानता। दुसाध प्यारू का बनाया हुआ खाता है। डॉक्टर का बाजा सुबह-सुबह पूछता है—क्या आपने आज मुँह नहीं धोया है? जुलुम बात! ऐसे सर्वशक्तिशाली व्यक्ति के सम्मुख सब हाथ जोड़कर खड़े हो जाएँ तो आश्चर्य क्या! पर यह प्रतिक्रिया तात्कालिक है। ज़्यादा स्थायी प्रतिक्रिया तो बाद में होती है। डॉक्टर अपनी जाति बताता है—डॉक्टर! गाँव के लोग समझ नहीं पाते या संतुष्ट नहीं होते। फिर अगला प्रश्न—बंगाली हैं या बिहारी! प्रासंगिक बात। जात न सही, प्रांत की बिरादरी का तो होना ही चाहिए उसे!!

समकालीन यथार्थ का अर्थ वर्तमान भारतीय संदर्भ में बदल रहा है। यह परिवर्तन, तमाम पूर्वकल्पनाओं के बावजूद, भारतीय सामाजिक ढाँचे का पूँजीवाद के विकसित ढाँचे में रूपांतरण ही है। यह रूपांतरण एक ऐसे व्यापक कार्यक्षेत्र से संबद्ध है, जिसकी सामाजिक और भौतिक वास्तविकता का ढाँचा अनेक पुरावशेषों से निर्मित है।

बहुसंरचनावाले इस ढाँचे में अनेकता और जटिलता का होना स्वाभाविक ही है। फलतः उसके यथार्थ में एक प्रकार का जीवित अंतर्विरोध मिलेगा। इस जीवित अंतर्विरोध को हम कार्य-व्यापारों, संस्कारों, विश्वासों में—अर्थात् पूरी जीवन-पद्धति में, व्याप्त देख सकते हैं। भारतीय संदर्भ में, विशेषतः ग्रामीण समुदायोंवाले विशाल भारत के संदर्भ में इन तमाम जटिलताओं का अपना महत्त्व है, इसे रेणु की रचनात्मक चेतना अच्छी तरह आत्मसात् करती है। वे सचेत ढंग से इस संरचनात्मक ढाँचे के भीतर के कार्यकलापों को देखते-परखते हैं और यह पहचान हमें इस तथ्य की ओर ले जाती है कि मध्ययुगीन वास्तविकताएँ आज भी हमारी गतिशीलता में बाधक तत्त्व की तरह प्रकट होकर हर जनवादी लहर को पीछे ठेल देती है। पश्चिमी

सुधारवादी आंदोलनों में इस बाधक तत्त्व का सामना करने के लिए अपने क्षेत्र में एक प्रकार के द्वैतवाद को स्वीकार-सा कर लिया था। भारतीय संदर्भ में धर्म-सुधार या सामाजिक सुधार के आंदोलन अपनी प्राथमिक स्थिति से कभी आगे न बढ़ सके और उनकी परिपक्वता संदिग्ध बनी रही। अपने वर्तमान संक्रमण के दौर में भी उनमें अनेक अंतर्विरोध ज्यों-के-त्यों बने दिखाई पड़ते हैं।

आर्यसमाज का आंदोलन जितना पश्चिमी भारत में सफल हुआ, उतना किसान-क्षेत्रों वाले पूर्वी हिन्दी प्रदेश में न तो व्यापक बना और न परिपक्व ही हुआ। रेणु का परिवार स्वयं आर्यसमाजी था, पर इस आर्यसमाजी परिवेश को भी रेणु ने आश्वासन की तरह ग्रहण नहीं किया। उन्हें यह लहर लौटती हुई ही दिखाई पड़ी थी। वस्तुतः आर्य-समाज का आंदोलन किसान जनता के बीच घर कर ही नहीं सका। अधिक-से-अधिक उसने सामाजिक द्वैत को ही बढ़ाया और सांप्रदायिक आवेश से ऊपर कभी न उठा। इसकी तुलना में राष्ट्रीय मुक्ति की राजनीतिक लहर अधिक व्यापक साबित हुई। उसने ग्राम-समाज की सरहदों को केवल छुआ ही नहीं, बल्कि उनकी विचारधारा में भी प्रवेश किया। अनेक दूसरी अंतर्वर्ती धाराएँ भी इस मूलधारा के साथ एक हो गईं। इस प्रकार विचारधाराओं में भी एक प्रकार की एकता संभव हुई। रेणु के समकालीन यथार्थवादी कथा-साहित्य का एक पक्ष इस प्रक्रिया से भी निर्धारित होता है। यह प्रक्रिया जनता की भावधारा और विचारधारा के संक्रमण की परिस्थितियों को तमाम जटिलताओं के बीच प्रकट करती है, उसके अंतर्विरोधों को बार-बार प्रकट करती है।

बहुसंरचना वाले सामाजिक ढाँचे में जनता के बीच के अंतर्विरोध और भी विविध होते हैं। ग्रामीण समाज की बनावट में यह विविधता प्रायः एक लक्षण की तरह स्थिर तो नहीं है, पर उसके अनेक स्तर हैं। रेणु का यथार्थवाद इन समकालीन स्तरों से अपना स्वरूप निर्धारित करता है। जिन लोगों को रेणु की नाटकीयता इतनी प्यारी है, वे भी उसके अंतर्विरोध के इन सामाजिक स्रोतों की ओर इशारा करके संतोष कर लेते हैं। मेरे लिए इस नाटकीयता के सामाजिक स्रोतों की पहचान इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि मुझे उसमें ही समकालीन यथार्थ की गतियाँ अंतर्हित दिखाई पड़ती हैं।

इस अर्थ में रेणु का यथार्थवाद प्रेमचंद के यथार्थवाद के निकट है। रेणु ने उसकी समकालीन पहचान में कुछ जोड़ने की भरसक चेष्टा की है और उन्हें थोड़ी सफलता भी प्राप्त हुई है। थोड़ी इसलिए कि यह समकालीन यथार्थ जिस तीव्रता से रूपांतरित हो रहा है, उससे रेणु ठीक-ठीक तालमेल बैठाने में और साथ-साथ चलने में जैसे पिछड़ गए। अपने दो प्रारंभिक उपन्यासों के बाद भारतीय बृहत्तर यथार्थ के इस परिवेश को उन्होंने छोड़ दिया और उसकी जगह ऐसे क्षेत्रों का चुनाव किया, जो इस परिदृश्य का अंग तो था, पर वह उस पूरी वास्तविकता की संश्लिष्टता को ठीक-ठीक आत्मसात् करने में समर्थ न था।

संक्रमण के काल में किसान-समुदाय के विभेदीकरण को प्रेमचंद और रेणु ने समान रूप से एक आततायी यथार्थ के रूप में देखा। इस विभेदीकरण से पहले से चले आते भेद और भी गहरा गए तथा कुछ नए अंतर्य भी प्रकट हुए। किसान व्यापक रूप में उत्पादन-चक्र में घसीटा जाकर किस तरह अपनी जड़ता से टूट रहा था, इसकी आततायी प्रक्रिया को प्रेमचंद और रेणु ने घटना-क्रमों के दो अलग-अलग बिन्दुओं पर पहचाना था। प्रेमचंद ने इतिहास के जिस बिन्दु पर इस आततायी प्रक्रिया को देखा था, वह बेहद निराशाजनक था। *गोदान* का किसान वर्ग इसी आततायी यथार्थ के बीच घिरा है और उसका संपूर्ण जीवन इसी टूटने की त्रासदी प्रकट करता है। संक्रमण की प्रक्रिया में जहाँ कृषि का उद्योग में संक्रमण हो रहा है, वहाँ छोटे किसान अपनी-अपनी ज़मीन से टूटकर मज़दूर बन रहे हैं। डॉक्टर रामविलास शर्मा ठीक लक्षित करते हैं कि होरी की तरह प्रेमचंद का किसान कभी अकेला नहीं रहा।

आज़ादी के साथ-साथ साम्राज्यवाद और भारतीय जनता का मूल अंतर्विरोध समाप्त न हुआ था, पर सामान्य जन के मन में व्यवस्था की एक नई तस्वीर पैदा हो गई थी। अपने देश पर अपने लोगों का शासन था। ये अपने लोग केवल जाने-माने न थे, बल्कि एक लंबी लड़ाई में जनता का नेतृत्व भी कर चुके थे। उनसे जनता की आशाएँ थीं, पर बहुत शीघ्र ही जनता को यह अनुभव हो गया कि यह लड़ाई ख़त्म नहीं हुई। व्यवस्था बदल गई, पर यथार्थ नहीं बदला है। प्रेमचंद के देवीदीन का डर सच साबित हो गया था। 'जनता की व्यवस्था' जनता से निरंतर अलग होती चली जा रही थी और इस प्रकार अपनी 'व्यवस्था' से ही हमारा अंतर्विरोध नए सिरे से खड़ा हो गया था।

इस नई व्यवस्था में पुराने तत्त्व अपने को पुनर्गठित कर रहे थे। जनता इससे आँख मूँदकर नहीं रह सकती थी। उसके सामने जो कुछ गठित हो रहा था, वह आश्चर्यजनक था। अपनी सीमित पृष्ठभूमि में रेणु ने *मैला आँचल* में इस समस्या को बहुत सफ़ाई और यथार्थ के साथ प्रस्तुत किया है। व्यवस्था और जनता के अंतर्विरोधों के बढ़ते हुए रूपों को रेणु ने मैला आँचल की कथा का एक महत्त्वपूर्ण घटनाक्रम बना दिया है। यह घटनाक्रम अवश्य ही किसी एक समस्या के केन्द्र में विकसित नहीं होता, बल्कि एक संपूर्ण परिघटना की तरह विकसित होता है।

गाँव के किसान अनपढ़ नहीं थे, उन्हें अनुभवों से शिक्षा मिली है। पिछले तीस-चालीस वर्षों की परिघटनाओं ने उन्हें प्रशिक्षित किया है। वे सरकार, आज़ादी, जनता, नेता, अहिंसा, हिंसावाद और किसी हद तक क्रांति का भी अर्थ समझने लगे हैं। वे अर्थ की बारीकियाँ नहीं गुनते, परिणाम से उसके चरित्र की पहचान बना लेते हैं। बालदेव जी पुराने नेता हैं, पर धीरे-धीरे वे अपनी ही जनता से अलग पड़ते हुए, कालीचरण और वासुदेव जैसे युवकों की नज़र में, 'बुरजुआ' हो जाते हैं। निरंतर अपना पक्ष समर्थन करते हुए भी वे फिर से अपने को प्रतिष्ठित करने में असमर्थ

हैं। कपड़े का कोटा आबंटन करने के सिलसिले में उन्हें दिन में पंद्रह-बीस बार झूठ बोलना पड़ता है। जनता की नज़रों में उनकी सुराजी छवि धूमिल हो रही है। साथ ही वे अपनी पार्टी के तेज़ नवीकरण की चपेट में भी आ गए हैं। परमिट बाँटने का कोटा उस जननेता से छीनकर एक दूसरे व्यक्ति को दे दिया जाता है। गाँव के तहसीलदार-महाजन-भूस्वामी कांग्रेस कमेटी के मेम्बर चुन लिए जाते हैं। बालदेव को राजनीतिक संन्यास लेना पड़ता है और वामनदास कहता है—'भारतमाता जार बेजार हो रही हैं'। बालदेव एक सुराजी कार्यकर्त्ता है, वह अंतिम दम तक लड़ेगा। मगर किसके बल पर? घटनाक्रम तेज़ी से बदल रहा है। देश पर पूँजीपतियों-महाजनों-भूस्वामियों का सम्मिलित शिकंजा मजबूत हो रहा है। कालीचरण वासुदेव तो अपने ही लोग हैं, पर राजनीतिक विभेद ने उन्हें बालदेव से काट दिया है।

बालदेव-वामनदास गुज़रे वक़्त के लोग हो गए। यह कांग्रेस का सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। राष्ट्रीय जनतंत्र पर एक और शक्ति का क़ब्ज़ा बढ़ रहा है। स्वयं बालदेव-वामनदास अपनी आँखों से सबकुछ देख रहे हैं, पर वे तो इस विराट मोर्चे के मामूली सिपाही हैं। अपनी जनता से टूटकर वे और भी पराभूत हो गए हैं। उनके इस 'अलगाव' और दर्द को कौन पहचानेगा? अपनी जनता भी तो इस दर्द को नहीं पहचानती। वह उन्हें ही इसके लिए दोषी साबित करती है। कपड़े, चीनी और किरासन तेल की पुर्जी अब तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद देंगे। बालदेव जी को क्यों छुड़ा दिया? जन सामान्य के मन में यह प्रश्न उठता तो है पर इसके राजनीतिक अर्थ को वह समझकर भी जैसे समझना नहीं चाहती। यह व्यवस्था का अपना मामला है। जनता के मन में एक और भ्रम भी शायद पैदा हो गया है—'उनका बिलेक पकड़ा गया'। यह भ्रम सर्वथा निराधार भी नहीं है। बालदेव जी 'बिलेक' चाहे न करते हों, पर उनसे जिन तत्त्वों को फ़ायदा हुआ है, उसे भी तो जनता देखती है। खेलावन ने जो ज़मीन ली है, सो किस रुपए से! खेलावन के घर में गाँठ-के-गाँठ कपड़े पड़े हैं! जनता से बालदेव के अलगाव के ये कुछ ठोस कारण हैं। आश्चर्य यह है कि ये तमाम भ्रम ऐसे हैं, जिनका निराकरण बालदेव के लिए राजनीतिक तौर पर संभव नहीं है। उसके पास राजनीतिक साधनों का अभाव है। वह एक मामूली किसान है। उसे कोई ख़बर नहीं दी जाती।

राजनीतिक विभेदीकरण की इस तस्वीर को रेणु ने ख़ूब फैलाकर और अहमियत देकर प्रस्तुत किया है। इस विभेदीकरण की राष्ट्रव्यापी प्रक्रिया को जनता के बीच उभारने में उन्हें अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। यह समकालीन यथार्थ का एक मौजूँ आयाम है, तात्कालिक और सार्थक! प्रेमचंद के युग में राजनीतिक विभेदीकरण की यह प्रक्रिया सिर्फ़ शुरू हुई थी और गाँवों तक नहीं पहुँच पाई थी। किसान आंदोलनों के बीच ही इसका विकास हुआ और आज़ादी के बाद यह प्रक्रिया तेज़ होती चली गई। यह नया यथार्थ तो न था, पर समकालीन यथार्थ अवश्य ही था। इस विभेदीकरण ने जनता के मन में कांग्रेस की छवि को धूमिल किया था।

कांग्रेस अमीरों की पार्टी है। यह अनुभव बालदेव जी के मन में भी एक कील की तरह गड़ गया था, पर वे कालीचरण की पार्टी में तो नहीं जा सकते!

उन्हें गाँधीजी के क़िस्से याद आते हैं। कालीचरण को जेल में सुनाए गए क़िस्से! विश्वास एक संस्कार भी होता है और समय के भीतर जड़ हो जाता है। समय ने विश्वास को इसी तरह बालदेव जी के भीतर भी जड़ कर दिया है। जनता से अलगाव की जिस पीड़ा के साथ बालदेव और वामनदास जुड़ते हैं वह एक अत्यंत सजीव अनुभूति है, पर निष्क्रिय क्यों हो गई है? शायद इसका मौलिक कारण वर्ग-स्थिति है। कृषि में पूँजीवादी क्रांति हो रही है, सामान्य किसान इस क्रांति का 'बेचारा' तत्त्व बन गया है। इस बेचारे तत्त्व में विभेदीकरण हो रहा है। राजनीतिक विश्वास बदल रहे हैं। व्यवस्था और जनता का अंतर्विरोध नए रूपों में खड़ा हो रहा है! इस यथार्थ को रेणु ने लक्षित ही नहीं किया, बल्कि एक राष्ट्रव्यापी तत्त्व के रूप में स्थापित किया है। समकालीन यथार्थवाद के इस रूप को कलात्मक शक्ति से, जीवन की कथा में, व्यापाररत जीवन कथा में, रेणु ने अंकित भी किया है। *मैला आँचल* की शक्ति इस ऐतिहासिक अर्थ-बोध में है।

विभेदीकरण बढ़ रहा है। चलित्तर कर्मकार की पार्टी सामने आ रही है—कम्युनिस्ट पार्टी! सोशलिस्ट पार्टी को छोड़कर वह कम्युनिस्ट पार्टी में आ गया है। गाँव में न सही, अंचल में उसका ज़ोर बढ़ रहा है। शायद देश में उसके बढ़ते हुए ज़ोर की एक कड़ी यह भी हो। जनता के बीच के राजनीतिक अंतर्विरोधों के बढ़ने की यह सजीवता एक जीवित प्रक्रिया की देन है। आज़ादी के बाद ही यह संभव हुआ है। साम्राज्यवाद का जुआ उतर जाने के बाद लड़ाई सीधी होनी ही चाहिए। ऐसा हो भी रहा है। बालदेव इसका साक्षी है।

परिघटनाओं के 'कनकसन' को सामान्य जनता भी समझने लगी है। आज़ादी झूठी है या सच्ची है, इसकी प्रतिध्वनियाँ गाँवों में भी सुनाई पड़ने लगी हैं। इतने अर्थव्यापी तत्त्व को समकालीन यथार्थ के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। किसानों की वर्ग-चेतना में मज़दूरों के साथ देने का प्रवेश साधारण नहीं है, पर विरोध एकदम ख़त्म हो गए हों, ऐसा भी नहीं है। औराही हिंगना की एक घटना से इसे रेणु ने बड़ी नाटकीयता के साथ स्पष्ट किया है। स्पष्ट है कि ऐसी परिघटनाओं के संयोजन में रेणु की नाटकीय क्षमता खूब प्रकट होती है। औराही हिंगना का सोशलिस्ट मेरीगंज में अपने नारे लगाए, यह स्थानीय जनता को रुचिकर नहीं लगता। इसे क्या कहेंगे? जनता के बीच का अंतर्विरोध? और इस अंतर्विरोध का स्रोत कहाँ है? बालदेव स्वयं इसके स्रोत हैं।

आज़ादी के प्रति हमारे रुख का अंतर्विरोध भी समकालीन यथार्थ का ही एक पहलू है। आज हम चाहे उसे जिस रूप में संशोधित कर लें, पर कभी वामपंथी राजनीति की यह समझ थी कि आज़ादी झूठी है। आज़ादी झूठी न थी, वह अधूरी थी। जनता की आज़ादी के कोमल और कठोर दोनों तत्त्वों की नाटकीयता को रेणु

ने प्रतिमुख किया है, पर यह प्रतिमुखता महज विरोध का चमत्कार दिखलाने के लिए प्रयुक्त नहीं हुई है। यह प्रतिमुखता किसी जीवन-चक्र से जुड़ी है। बालदेव जी संभ्रम में हैं, पर वामनदास को अब अपने पर भी 'परतीत' नहीं रहा। उनका विश्वास मूलतः आहत हुआ है। बालदेव का कहना है कि उन्हें 'भरम' हुआ है। राजनीतिक शब्दावली में इसे 'डेविएशन' का नाम दिया जाता है, पर वामनदास को विश्वास है, गाँधीजी पार लगाएँगे। वामनदास को गाँधीजी का पत्र मिला है। वह कुंठित हँसी हँसकर कहता है —

'बापू को देखिए! अब हम क्या करें। मन में संदेह होता है,...दिल उदास हो जाता है। फिर आदमी को अपने काम पर भी विश्वास कैसे हो...।'

परिवर्तन के इस अंतर्विरोध की नाटकीयता से देश की तीन पीढ़ियाँ समान रूप से प्रभावित न थीं, उनमें यथेष्ट दूरियाँ थीं। ये दूरियाँ क्रमशः वास्तविक होती जा रही थीं। वामनदास, बालदेव जैसे लोग इस परिवर्तन से पीड़ित हैं, क्योंकि उनका मोहभंग हो रहा है। यह दूसरी बात है कि इस मोहभंग के बावजूद उनके लिए परिवर्तन को स्वीकार कर पाने का आधार नहीं रह गया है। बालदेव अनेक प्रसंगों में इसे स्वयं स्वीकार करता दिखाई पड़ता है। वामनदास का बलिदान इस मोहभंग का एक सबसे दुःखद प्रसंग है। इस प्रसंग की मार्मिकता पर टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है।

राजनीतिक विभेदीकरण परिवर्तन का एक लक्षण है। मूल अंतर्विरोध कृषि-संबंधों के पुनर्गठन का है। आज़ादी ने कृषि-संबंधों में परिवर्तन को अनिवार्य-सा बना दिया था। तमाम दूसरी समस्याएँ इसी के चारों ओर संसज्जित हो रही थीं। *मैला आँचल* का यथार्थवाद केवल राजनीतिक विभेदीकरण से परिभाषित नहीं होता। उसकी समकालीनता का मूल कहीं और है। कालीचरण ने ग्रामीण जनता के विश्वासों को नए ढंग से जीवित कर दिया है। किसान-मज़दूर अपनी समस्याओं के प्रति सचेत हो रहे हैं, पर उनका राजनीतिक मंच भी उतना ही आत्मविभाजित है। किसान-सभा उस स्तर पर अपनी भूमिका का निर्वाह नहीं कर पा रही है। संयुक्त मोर्चे की राजनीति गाँवों तक नहीं पहुँची है। फिर भी एक जीवित वामपक्ष सक्रिय होने की स्थिति में है। ये ऐसी ठोस स्थितियाँ हैं, जिन्हें पहचाने बिना समकालीन यथार्थ का अर्थ अगोचर रह जाता है।

समकालीन यथार्थ का यह अर्थ एक प्रखर किन्तु किसी प्रवासी लेखक को '60 में भी अगोचर ही रह गया था, जब उसने अँधेरे की इस दुनिया को अँधेरे में ही देखने की एक साहसभरी किन्तु व्यर्थ चेष्टा की थी। इसे पसरी हुई निरतंतरता और अँधेरे के सिवा कुछ दिखा ही न था। अवश्य ही वह एक बाहरी आदमी था और समय के भीतर होनेवाले परिवर्तनों को वह बाहरी तथ्यों से पहचानना चाह रहा था और वह भी एक बहुत ही संक्षिप्त से प्रवास काल में। यहाँ तात्पर्य वी.एस. नायपाल की पुस्तक *एरिया ऑव डार्कनेस* से है।

मैला आँचल के लेखक के लिए यह उपमहाद्वीप इतना अँधेरा नहीं है। अपने कोने से भी उसने उसकी बदलती हुई वास्तविकता को ठीक-ठीक देखा है। उसने अँधेरे में आँखें साधी हैं, उसकी कला-दृष्टि में भी यही पारदर्शिता है।

मैला आँचल के गाँव में भी किसान और मज़दूर एक साथ मिलकर संघर्ष नहीं करते, पर उन्हें यह पता है कि मुक्ति के लिए साथ होना आवश्यक है। ग्रामीण जीवन में राजनीतिक धारा के इस उत्सर्जन से—निरंतर सुनाई पड़नेवाले नारों से—एक प्रकार की नई गतिशीलता जन्म लेती है। पुराने संबंधों की जड़ इकाइयाँ भी टकराहट के बीच आ जाती हैं। *मैला आँचल* में यह गतिशीलता प्रायः सभी क्षेत्रों की गोचर वास्तविकता है। ग्रामंती जीवन की इकाइयाँ अपना अलगाव समाप्त करती हुई दिखाई पड़ती हैं। इन इकाइयों से एक बड़ी चेतना का जन्म होता सर्वत्र ही दिखाई पड़ता है।

पर इस बड़ी चेतना के जन्म की अपनी शिद्दतें हैं, उतना ही बड़ा दर्द भी है। *गोदान* में यह चेतना जन्म लेने की पीड़ा झेलती हुई शहीद हो जाती है, *मैला आँचल* में वह जीवित जन्म लेती है। इस दृष्टि से *मैला आँचल* हिन्दी कथा-साहित्य में एक ऐतिहासिक भविष्य के जन्म की कथा भी है। निरंतर और परिवर्तन के इस विराट् नाटक में सबकुछ नाटकीय ही नहीं है, बहुत कुछ ऐसा भी है, जो स्वाभाविक है। ऐसी स्वाभाविकता ऐतिहासिक प्रक्रिया के साथ जुड़ जाती है। यह ऐतिहासिक वास्तविकता अपने समकालीन अर्थ में यह प्रकट करती है कि कृषि-क्रांति का प्रश्न बुर्जुआ-क्रांति के तत्त्वों के तहत, केवल जनवादी विकास और रूपांतरण को कुंठित करती हैं। *मैला आँचल* में छोटे-बड़े किसानों के अंतर-संघर्ष के रूप में इसका चित्रण किया गया है।

मैला आँचल में छोटे मेहनतकश आदिवासी किसानों के भूमि-संघर्ष में तमाम सामंती शक्तियाँ सहसंगठित हो जाती हैं और छोटे किसान पराजित हो जाते हैं। उनके शस्त्र संग्रह को डकैतों का उपक्रम कहकर बदनाम किया जाता है। पार्टियाँ भी ऐसे तत्त्वों को निष्कासित करने पर तुली दिखाई पड़ती हैं, पर इससे भूमि-संबंधों का संकट टल नहीं जाता। सामंतवादी शक्तियों का सहसंगठन भी इस तथ्य को ढाँक नहीं पाता कि छोटे किसानों की इस पराजय के बावजूद लाभ केवल ऊपर के सामंती तत्त्वों को ही हुआ है। खेलावन सिंह यादव का संकट और बढ़ जाता है। 'कमला किनारे की बंदोबस्तीवाली ज़मीन में से दस बीघे सूद-रेहन रखकर, और भी एक हज़ार रुपैया तहसीलदार साहब से लिया है, खेलावन ने।' इन आंतरिक संकटों की राजनीति से किसान परिचित हो रहे हैं। दूसरे छोटे किसान भी इससे कुछ सीख रहे हैं। उन्हें निरंतर इसका आभास होता है कि यह ऊपर एकता किसके हित में जाती है। नेतृत्व के सवाल पर किसान सचेत हो रहे हैं। सामंती तत्त्वों की पहचान साफ़ हो रही है। अंतर्विरोधों के साथ बड़ी चेतना के जन्म की यह कथा *मैला आँचल* के पूरे संदर्भ को एक नया अर्थ देती है।

भूमि-समस्या *मैला आँचल* की धुरी समस्या है। कृषि-संबंधों के पुनर्गठन का प्रश्न एक जीवित प्रश्न की तरह इस उपन्यास की कथा में आता है। लेखक ने प्रेमचंद की तरह ही इस प्रश्न को जीवन-संबंधों की व्यापकता में और दैनंदिन जीवन के क्रिया-कलापों में उतारकर देखा है। आज़ादी ने इस प्रश्न को और भी अनिवार्य तथा तात्कालिक बना दिया है।

मैला आँचल में रेणु ने ग्रामांचलों में आर्थिक-सामाजिक विकास के अंतर-संबंधों को नई परिस्थितियों में पहचानने का गहरा प्रयत्न किया है। उन्होंने लक्षित किया है कि आज़ाद भारत में भी आर्थिक परिवर्तन का सामाजिक विकास पर वैसा सम प्रभाव नहीं पड़ रहा है, जैसा पड़ना चाहिए था। दोनों के अंतर-संबंध में निकटता नहीं आई है। राष्ट्रीय अर्थतंत्र का विकास ग्रामांचलों के सामाजिक विकास में बहुत अधिक सहायक नहीं हो रहा है; बल्कि एक हद तक उसे बाधित ही कर रहा है। इस समस्या को एक दूसरे रूप में, पर लगभग इसी संदर्भ में, *राग दरबारी* में भी देखा गया है। आर्थिक और सामाजिक कारकों के बीच पुराने संस्थान आज भी खाई पैदा करने में पर्याप्त सक्षम हैं।

इस यथार्थ प्रक्रिया को रेणु ने बहुत अधिक महत्त्व दिया है। *मैला आँचल* और *परती : परिकथा* की कथाभूमियों में जो अंतर्य है, वह इसी विस्तारित महत्त्व को प्रकट करता है। सामाजिक लक्ष्यों की उपलब्धि में राष्ट्रीय अर्थतंत्र का असंतुलन एक समस्या बना हुआ है। ग्रामांचल इसके सबसे अधिक शिकार हुए हैं। फलतः समकालीन भारत में कृषि-संघर्ष की अनेक समस्याएँ अनेक रूपों में प्रकट हो रही हैं। *मैला आँचल* और *परती : परिकथा* के लेखक ने इनकी पृष्ठभूमि पर विस्तार से और कलात्मक यथार्थ से प्रेरित होकर लिखा है।

मलारी को गाँव छोड़ना पड़ता है और जित्तन गाँव में आकर बस जाता है। यह कैसी विडंबना है? इस यथार्थ का अर्थ केवल मनोवैज्ञानिक अपेक्षाओं में नहीं है। इनके बड़े और जटिल कारण हैं! सामान्यतः मलारी के गाँव छोड़ने का कारण सामाजिक दिखता है और जित्तन की गाँव वापसी का आर्थिक! लेकिन सच्चाई यह है कि दोनों के ही कारण आर्थिक हैं। ताजमनी को सामाजिक कारणों से स्वतंत्र रखनेवाली शक्ति तो अंततः जित्तन ही है। गाँव का नया सामंत!

परती : परिकथा की पृष्ठभूमि आज़ादी के बाद का भारत है। ग्रामांचल का एक और परिवर्तनकारी दौर उसकी कथा में प्रकट होता है। *मैला आँचल* की तुलना में यह उपन्यास शुद्ध रूप में ग्रामांचलों की भूमि-समस्या से जुड़ा हुआ है। *परती : परिकथा* में ग्रामांचल के सामाजिक-आर्थिक गठन में परिवर्तन के स्पष्ट लक्षण दिखाई पड़ते हैं। यह परिवर्तन अनियोजित आर्थिक-राजनीतिक प्रक्रिया का एक अराजक रूप प्रस्तुत करता है। आर्थिक योजनाओं के राष्ट्रीय दौर में भी, जब क़ानूनी तौर पर ज़मींदारी का उन्मूलन हो चुका है, वास्तविक भूमि संबंध में परिवर्तन नहीं हुआ है। सामंतवादी ढाँचे के भीतर कृषि-संबंध की इस रूपरेखा पर *परती : परिकथा*

में विस्तार से एक कथा-भूमि की रचना की गई है। वस्तुतः प्रेमचंद के बाद गाँवों का संपूर्ण चित्रण समकालीन विकास के संदर्भ में, *परती : परिकथा* में ही है।

मैला आँचल जहाँ ग्रामकथा है, वहाँ *परती : परिकथा* भूमि-संबंधों के अंतर्विरोध से आगे बढ़ी भूमि-संघर्ष की कथा है। *मैला आँचल* में भूमि-संघर्ष की एक झलक मात्र मिलती है, पर *परती : परिकथा* संपूर्णतः संघर्ष की पृष्ठभूमि में लिखी गई महत्त्वपूर्ण रचना है। अक्सर आलोचकों ने इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को नज़रअंदाज़ किया है। जिन लोगों के लिए यथार्थवाद रूप और गठन का विषय है, वे इससे ज़्यादा कुछ सोच भी नहीं सकते। कथा-विषय के महत्त्व की दृष्टि से और समकालीन यथार्थ की विशिष्टता की दृष्टि से *परती : परिकथा* ज़्यादा लाक्षणिक रचना मानी जा सकती है।

परती : परिकथा का मूल अंतर्विरोध सामंतवादी भूमि-व्यवस्था से नए किसान-वर्ग का संघर्ष है। युद्धोत्तर काल में (द्वितीय विश्वयुद्ध) शहर-गाँव का आर्थिक असंतुलन बढ़ गया था। वर्ग-चेतना मज़दूरों से होकर किसानों तक पहुँच रही थी। *मैला आँचल* में इसकी अनुगूँज बार-बार सुनाई पड़ती है, पर *परती : परिकथा* में यह अनुगूँज मात्र नहीं है—संपूर्ण कथा-विषय ही भूमि-समस्या और किसानों का संघर्ष है।

बहुसंरचनात्मक समाजों में भूमि-समस्या संपूर्ण जटिलता का अंग होती है। उसमें सामंती, अर्द्धसामंती और बुर्जुआ तत्त्वों की एक साथ उपस्थिति से ही यह जटिलता उत्पन्न होती है। इस पृष्ठभूमि में जनता के बीच के आर्थिक-सामाजिक अंतर्विरोधों की कल्पना सहज ही की जा सकती है। भारतीय सामंतवाद के रूपांतरणों से यह जटिलता और भी बढ़ी है। इस सामाजिक स्थिति का चित्रण *परती : परिकथा* में सबसे अधिक हुआ है। वस्तुतः *मैला आँचल* जहाँ राजनीतिक विभेदीकरण का संकेत करनेवाला उपन्यास है, वहाँ *परती : परिकथा* में राजनीतिक संघर्ष अपने व्यापकतम कारणों से जुड़ गया है—गाँवों में राजनीति भूमि-समस्या के केन्द्र में ही तय हो सकती है। आज़ादी के बाद कोई राष्ट्रीय संघर्ष अगर किसानों के लिए सच हो सकता है, तो वह भूमि का संघर्ष ही है।

पिछले दशकों के किसान-आंदोलन ने चाहे और कुछ न किया हो, पर किसानों को अपनी समस्याओं से तो जोड़ा ही था। भारतीय ग्रामीण जनता के शोषण का कारण सामंती-महाजनी शोषण रहा है—यह तो प्रेमचंद की कथा-भूमि से ही तय हो चुका था, लेकिन आज़ादी के बाद इस शोषण-व्यवस्था में और भी गहरी शक्तियाँ शामिल हो गई थीं। सामंती शक्तियों के साथ जो नई पूँजीवादी शक्तियाँ ग्राम-व्यवस्था में प्रवेश कर गई थीं, उनका शोषण-तंत्र और भी ज़्यादा संगठित था। *परती : परिकथा* में इसी नए तंत्र की व्यवस्था की पृष्ठभूमि में किसानों के संघर्ष का चित्रण करके रेणु ने भारतीय साहित्य की एक बड़ी कमी को पूरा करने का भरसक प्रयास किया है।

परती : परिकथा को परिवर्त्तों में संयोजित किया गया है। इस परिवर्त्त-परिकल्पना के पीछे गतियों का अंतर्य प्रकट करना ही उद्देश्य हो सकता है। एक व्यथा भरी कथावाली परती का परिवर्त्त!! काल-कथा का संगीत-भरा दर्द!

कुछ आलोचकों के लिए यह आकर्षक संरचना मुग्धकारी रही है। वह है भी, पर वह इतनी ही नहीं है। वह दर्द भरे गीत की टेक की तरह मात्र आवर्त्तनकारी नहीं है। उसमें यथेष्ट गति है—वास्तविक आरोह-अवरोह है। यह परती तो मात्र एक प्रतीक है। आज़ादी के बाद इस परती के टूटने की कहानी महज़ प्रतीक नहीं है। वह एक राष्ट्रीय वास्तविकता का अंग है। एक दीर्घकालीन, प्रायः निजंधरी स्थिति के भीतर से जन्म लेती वास्तविकता इस परती का परिवर्त है। एक अधूरी कहानी के सपनों से यह कथा जुड़ गई है। काश! इस अधूरी कहानी के सपनों से किसान भी सीधे जुड़ पाते, तो यह कथा ही कुछ दूसरी हो जाती, लेकिन परती पर भी व्यक्तिगत स्वामित्व की काली छाया है। इस परिवर्त के केन्द्र में अकेला जित्तू है। किसान इस स्थिति को स्वीकार नहीं करते। यहीं से अंतर्विरोधों का जन्म होता है; परती के टूटने से उत्पन्न अंतर्विरोधों का जन्म। किसान परती के जन्म के भागीदार बनेंगे।

परती को जित्तन अपने कैमरे की क़ीमती आँख से देख रहा है। किसान के पास इतनी क़ीमती आँख तो नहीं है, पर उसकी अपनी ही आँख काफ़ी कुछ देख लेती है। दूसरों की अनिच्छा के बावजूद! बंजर के पास से एक ब्रांच लाइन गई है, बिजली के तार दौड़े हैं। औद्योगिक लक्षणों के प्रकट होने का यह संकेत परती की पृष्ठभूमि में और भी लाक्षणिक हो जाता है। नए भूमि तीर्थों की ओर देश की आँखें गड़ी हैं—टैनिसीघाटी परियोजना से प्रेरित और बहुत कुछ स्वचालित आँखें। वैसे ये आँखें भारतीय अभागे किसानों के लिए भी सहानुभूति के आँसू बहा रही है। हल बैल के उपादानों की कैद में पड़े किसानों के लिए श्री भवेश नाथ एम.ए. के मन में गहरी सहानुभूति है, पर इस योजना का उपयोग कौन करेगा? भारतीय अभागा किसान नहीं करेगा! पर नया भूस्वामी? उसके पास साधन है, वह सपने भी देख सकता है और सपनों पर पुल बनाकर उनपर चल भी सकता है।

सपना भवेश का हो या जितेन्द्र नाथ का, उसका स्वरूप एक ही है। बंजर परती में युगांतरकारी परिवर्तन का, यह सपना किसान नहीं देख सकता, भूस्वामी ही देख सकता है। हाइड्रो-इलक्ट्रिसिटी से चल रही मशीनों, ट्रैक्टरों से जुत रही भूमि का सपना बेचारा और अभागा किसान नहीं देख सकता। उसके सपने भी अपने हैं। इन सपनों का सहअस्तित्व ही बना रहेगा या ये सपने स्वतंत्र रूप में साकार भी होंगे! प्रश्न का संबंध संपूर्ण भूमि-समस्या से है। परानपुर की यह परती तो एक अंग है इस भूमि समस्या का।

परानपुर भारत के अनेक पुराने गाँवों की तरह एक गाँव है—समृद्धियों, पतनों के काल-मार्ग से गुज़रता हुआ गाँव। उसे किसी पश्चिमी व्याख्याकार की तरह

'कालातीत' और 'मापहीन निरंतरता' में डूबा हुआ कहकर सबकुछ समाप्त नहीं किया जा सकता। समकालीन भारत की यह वास्तविकता तो अर्थपूर्ण है ही। परती, सेमलवनी सब पर कुंडली मारकर बैठे हुए सामंतवाद का क़ानूनी अंत तो हो गया, पर वास्तविक अंत उसका तब तक नहीं होगा, जब तक भूमि का किसानों में वितरण न हो जाए, पर यह तो एक संभावनामात्र है। इसे संघर्ष से ही साकार किया जा सकता है। *परती : परिकथा* इसी संभावना के लिए किसानों के संघर्ष की कथा बन गया है।

अवश्य ही इस कथा में किसानों के संघर्ष के अतिरिक्त भी बहुत कुछ है। जीवन में भी बहुत कुछ है। सामाजिक अस्तित्व की स्थितियाँ और भी हैं। उनके बिना उपन्यास एक रपट बन जाएगा। किसान समस्या को लेकर रपट तैयार करना कथाकार का उद्देश्य नहीं है। हाँ, अगर कथा एक प्रामाणिक रिपोर्ताज भी हो, तो क्या बुराई है!

परानपुर हवेली और परती का संबंध एक ही स्रोत से बनता है। दोनों के केन्द्र में मिश्र परिवार हैं—अतीत से वर्तमान तक। इस धुरी परिवार की ह्रासोन्मुख स्थिति का बड़ा ही सवाक्-सदृश्य चित्रण उपन्यासकार ने किया है। *मैला आँचल* की नाटकीयता की अपेक्षा यहाँ दृश्यपट का छविमय विस्तार है। छवियाँ धुँधली भी हैं और साफ़ भी—पर दोनों रूपों में प्रासंगिक हैं। इस परिवार के साथ एक पूरी कथा जुड़ी है—एक जीवित 'लिज़ेण्ड'! इस 'लिज़ेण्ड' का अपना अर्थ और यथार्थ है। हम उसकी खोज की जगह उसके वर्तमान को ज़्यादा महत्त्व देने को बाध्य हैं।

ज़मींदारी ख़त्म हो गई। ज़मीन पर वास्तविक उत्पादक का हक़ होना चाहिए, पर इन पंद्रह वर्षों के बाद गाँव का पुराना ज़मींदार जित्तन लौट आया है। इस पर कथाकार की टिप्पणी है—'परानपुर के पानी में अब फिर मिठास लौट आई है।' गाँव टूटा है, गाँव बन रहा है। टूटे हुए खंडहरों को साफ़ करके नीवें डाली जा रही हैं।

शिलान्यास हो रहा है। नई इमारतों की बँधाई-गँथाई चल रही है। नई ईंटों के साथ पुरानी किन्तु काम के योग्य ईंटों को मिलाकर दीवाल बना रहा है राजमिस्तरी। अपनी बसूली से वह पुरानी ईंटों को बजा-बजाकर कहता है—"इसी ईंट को असली सूरजमुखी ईंट कहते हैं।...यह हमारे ठेकेदार साहब की ईंट नहीं कि मुट्ठी में मसलकर आँखों में झोंक दिया।"

परानपुर बदल रहा है। भारत के गाँव बदल रहे हैं, पर यह परिवर्तन संतुलित नहीं है। कहीं यह परिवर्तन तेज़ है और कहीं बेहद धीमा! पर रुका हुआ कुछ भी नहीं है। ग्राम-समुदायों की जड़ता टूट गई है। निरीह ठहरे हुए गाँवों में जैसे बाहर-भीतर से बदलाव की सक्रियता उत्पन्न हो गई है। आर्थिक चालन और शिक्षा के विस्तार ने इन गतियों को प्रायः सुनिश्चित कर दिया है। पंचायतों ने एक और नया

राजनीतिक ढाँचा गाँवों में खड़ा कर दिया है। इन पंचायतों का चरित्र सामाजिक पंचायतों से सर्वथा भिन्न है। इनके क्रिया-कलापों में अंतर साफ़-साफ़ झलकता है।

प्रत्येक नई संस्था में जाति और दल की राजनीति प्रवेश कर गई है। परंपरागत संस्थान भी इन नए चालनों से प्रभावित हो रहे हैं। स्कूल की कमेटियाँ भी इनसे अछूती नहीं हैं। संरचनात्मक सहअस्तित्व का यह विचित्र मिश्रण यथार्थ के संक्रमणकारी रूप को समकालीन पहचान देता है। परानपुर में अस्पताल है, हाई-स्कूल है, पुस्तकालय है! कोशी परियोजना और प्रखंड विकास योजनाएँ हैं, अंचल का दफ़्तर है। परानपुर आज़ाद भारत का एक समृद्धिशाली गाँव है। मगर इस बदलाव के साथ मूल संरचनात्मक तत्त्वों की सक्रियता भी स्पष्ट है —

'पिछले आठ-दस वर्षों में जातिवाद ने काफ़ी ज़ोर पकड़ा है। राजनीतिक पार्टियाँ जातिवाद की सहायता से संगठन करना जायज़ समझती हैं। राजनीति के दंगल में सबकुछ माफ़ है।'

कई नए शब्द हवा में उछल रहे हैं—नामिनेशन, मेजोरिटी, पौलटीस, पौलीसी...

ज़मींदारी उन्मूलन की चपेट से स्टेट को बचाने का श्रेय जलधारी लाल दास को है। अब यह श्री जितेन्द्रनाथ मिश्र के हाथ में है कि वे इस स्टेट पर अपना दायमी कब्ज़ा सिद्ध करें। संघर्ष की पृष्ठभूमि के रूप में यह परिस्थिति अत्यंत ठोस और सामयिक है। राष्ट्रीय अर्थतंत्र से यह पृष्ठभूमि स्वाभाविक रूप में जुड़ गई है। नया भू-स्वामित्व विकासशील गाँवों में अपना रूप और चरित्र ही प्रकट नहीं कर रहा, अपनी तमाम शक्तियों को संयोजित करके वह नई स्थितियों पर प्रतिक्रिया भी करने लगा है। पुराना ज़मींदारी उत्पादन नए कुलक-पूँजीपति उत्पादन में बदल रहा है। ज़मींदारी चली गई पर भूमि तो नहीं गई —

'परानपुर पट्टी पतली है, ज़मीन खुदकाश्त है, बकाश्त है, रैयती हक़ है।'

भूमि बंदोबस्ती सर्वेक्षण के क्रम में जित्तन लौट आया है। ज़मीन की रक्षा करने का प्रश्न ही नहीं है, उसके सामने, उस ज़मीन में नया उत्पाद भी जमा करना है। बिहार टैनेन्सी एक्ट की दफ़ा 40 ने ज़मीन आबाद करनेवालों का अधिकार स्वीकार कर लिया, पर कचहरी की करामात ने उसे किसानों के हित में ही व्यर्थ कर दिया। सबसे बड़े किसानों ने सरकार की इस व्यवस्था को व्यर्थ कर दिया। ये बड़े किसान सौ-दो-सौ बीघे जोत के लोग नहीं हैं। इनके पास हज़ारों एकड़ ज़मीन है, पर वे हैं किसान और किसान सभा भी उन्हें अपनी सदस्यता से वंचित नहीं कर सकती! पाँच सौ बीघे की खेती तृतीय श्रेणी का किसान करता है! और शेष तो विशाल भूमिहीन मज़दूर हैं। इस आर्थिक संरचना पर हमें विशेष रूप से ध्यान देना होगा।

गाँवों में सामाजिक वर्ग-संरचना में आज़ादी के बाद परिवर्तन हुआ है। इस निर्णायक तत्त्व को किसी भी तरह नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। मगर इस

परिवर्तन की गतिशीलता को उसके बाधक तत्त्वों के संदर्भ में समझने की अपनी अपेक्षाएँ हैं। इस गतिशीलता का पैमाना परानपुर सर्वेक्षण ने निर्धारित किया है—बौण्डोरी···बौण्डोरी! अर्थात् हद, सीमा! बच्चा-बच्चा यह शब्द बोलता है और उसका अर्थ भी समझता है।

किसानों के बीच इस आर्थिक सामाजिक अंतर्विरोध को 'बौण्डोरी' की लड़ाई ने और तेज़ कर दिया है। हर ओर एक ही शब्द उछाला जा रहा है और उससे संबद्ध कई दूसरे आकारोंवाले शब्द फैल रहे हैं। भूमि-समस्या नए सिरे से अपनी वास्तविकता प्रकट करने लगी है। यह वास्तविकता अपना अलग दबाव रखती है, अपनी अलग तलाश पैदा करती है। किसान के लिए उसका सारा अस्तित्व इस शब्द में क़ैद हो गया है। स्वामित्व का प्रश्न उतना बड़ा नहीं है, जितना जोतदार का प्रश्न है। बड़े किसानों के लिए सीमा का प्रश्न स्वामित्व का प्रश्न है, छोटे किसानों के लिए जोतदारी-बटाई का प्रश्न अस्तित्व और अधिकार का प्रश्न है। संघर्ष की भूमिका के लिए भूमि-समस्या पर किसान फिर से सोच रहा है।

"ज़िले भर के किसानों और भूमिहीनों में महाभारत मचा हुआ है। भूमिहीन ही नहीं, डेढ़-सौ बीघे के मालिकों ने भी दूसरे बड़े किसानों की ज़मीन पर दावे किए हैं। हज़ार बीघेवाला भी एक इंच ज़मीन छोड़ने को राज़ी नहीं।"

पर इस सर्वे ने एक और गंभीर तथ्य को सामने लाकर खड़ा कर दिया—किसानों के बीच के अपने अंतर्विरोधों को। भारतीय कृषक वर्ग की संरचना में जो बहुलता है, वही इन अंतर्विरोधों के मूल में है, पर इससे स्वतंत्र भी उनके आपसी विरोधों की एक लंबी सूची तैयार की जा सकती है। सरवन बाबू और लालचन बाबू में फ़ौजदारी हो गई है। छोटे भाई ने बड़े भाई को क़ानूनी तौर पर आगे बढ़ा दिया है। लालचन पढ़े-लिखे नहीं, पर ज़मीन पर अधिकार को खूब समझते हैं। वकील की सलाह पर उन्होंने फ़ौजदारी करके बड़े भाई को इस मामले में आगे झोंक दिया है।

और तो और, इस आर्थिक असंगति ने अजीब-अजीब सामाजिक असंगतियाँ पैदा कर दी हैं। भाई को भाई ने अवैध संतान घोषित कर दिया है 'इसके बाप का ठिकाना नहीं। मेरे बाबूजी के मरने के तीन साल बाद···।' सचमुच ही यह सामाजिक वास्तविकता भयंकर ही है। व्यक्तिगत स्वामित्व का उन्माद किस प्रकार सामाजिक अस्तित्व का नाश करता है, इसका यह जीवित उदाहरण है। 'परिवार समाज' तो गए दिन का समाज था। अब 'परिवार' है, समाज नहीं है और यह परिवार नई इकाईवाला परिवार है, नया आर्थिक परिवार। इस प्रकार परिवर्तन हर क्षेत्र में चरितार्थ हो रहा है।

इस परिवर्तन ने बड़े-बड़े इज्ज़तदारों की हवेलियों में बंद, घूँघटों में छिपी बेवा औरतों को पर्दा-बाहर कर दिया है। सामाजिक अस्तित्व का प्रश्न संस्कारों से तो बड़ा होता ही है। *मैला आँचल* के 'जोतखी काका' होते तो कहते—सर्वनाश! सर्वनाश! कालेज में पढ़नेवाले छात्र गाँव लौट आए हैं, उन्हें डर है कि कहीं पिता

सारी ज़मीन किसी खास बेटे के नाम चढ़वा न दें। संपत्ति की असंगति के न जाने कितने सामाजिक चेहरे होते हैं, पर उनमें कुछ चेहरे नए होते हैं, समकालीन!!

गाँवों में वर्षों से बने पुराने रास्ते बंद किए जा रहे हैं। खेतों में पगडंडियाँ बंद की जा रही हैं। अगर सर्वे में रास्ता दर्ज हो गया तो!

गाँव के भीतर का यह परिदृश्य गाँव के बाहर की परिस्थितियों से भी जुड़ गया है। फ़ौजदारी—दीवानी कचहरियाँ आबाद हो गई हैं। ज़मीन, क़ानून से लेकर चपरासी तक महत्त्वपूर्ण हो गए हैं। जैसे एक सर्वथा नई वास्तविकता की दहशत ने गाँवों को जकड़ लिया है। भूमि-समस्या का यह विस्तार जिस नई 'सामाजिकता' को जन्म दे रहा है, उसकी इतनी विस्तारित कथा भारतीय उपन्यासों में अन्यत्र दुर्लभ है। बाङ्ला देश के उपन्यासों में भी ऐसा जीवित समकालीन विस्तार कम मिलेगा।

वर्ग जड़ होते हैं, तो जातियाँ बनती हैं? *परती : परिकथा* में वर्ग की जड़ता तो टूटती है, पर जातियाँ मजबूत होती हैं। इस अंतर्विरोध पर अलग से विचार करने की आवश्यकता है। यह समकालीन भारत की एक विशेष समस्या है। *परती : परिकथा* का लेखक बताता है—'आठ वर्षों से जातिवाद के दीमकों का आहार रहा है मनुष्य का हृदय।' वस्तुतः जातिवाद की शक्ल में यह वर्ग-शक्तियों का नया संतुलन-समीकरण ही है, जिसे लेखक अगर स्पष्ट करता तो *परती : परिकथा* का महत्त्व और भी बढ़ जाता।

डॉ रामविलास शर्मा ठीक ही लक्षित करते हैं कि स्वाधीनता आंदोलन के भीतर किसान क्रांति की संभावनाओं को कुंठित किया गया था। आज़ादी के बाद नई पूँजीवादी परिस्थितियों ने उन्हें एक और रूप दे दिया। यह रूप पूँजीवाद के हित में था। गाँव के भीतर सामंती पूँजीवादी शक्तियों का तालमेल एक नई दिशा में विकसित हो गया। इससे स्वतंत्र कृषि क्रांति की संभावनाएँ कुंठित हुईं, पर इस तालमेल से समस्या समाप्त नहीं हुई, वह और भी जटिल हो गई।

रेणु किसान और नए भूमि-स्वामी वर्ग के संघर्ष को इस उपन्यास की कथा बनाकर यह सिद्ध करते हैं कि जिस प्रकार शहरों में नया संगठित मज़दूर वर्ग पूँजीपतियों से संघर्ष के एक नए चरण में प्रवेश करता है, कुछ उसी प्रकार गाँवों में किसान-भूस्वामी संघर्ष का एक नया चरण आज़ादी के बाद प्रकट होता है। इस मूलगामी वास्तविकता के साथ गाँव की ज़िन्दगी के दूसरे रूप अविभाज्य रूप में जुड़े हैं। किसानों की ज़िन्दगी पर लिखते हुए अगर रेणु भूमि-संबंधों में नई शक्तियों के उदय पर विस्तार से प्रकाश डालते हैं, तो यह स्वाभाविक ही है। इससे यथार्थ अधिक गतिशील रूप में सामने आता है।

परती : परिकथा में किसान आंदोलन की पृष्ठभूमि में राजनीतिक पार्टियाँ है.। किसान-सभा जैसी कोई संगठित, किसानों की अपनी संस्था नहीं है। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है, जिससे किसान आंदोलन की सीमाएँ प्रकट होती हैं। परती टूटती है और गाँव में नारे गूँजने लगते हैं —

'ज़मींदार के विष का दाँत···
तोड़ेंगे·····तोड़ेंगे!
ज़मींदार का हाथ–साथ
छोड़ेंगे·····छोड़ेंगे!'

असंगठित युवकों के ये नारे चाहे किसान संघर्ष का ठोस आधार न बनें, पर ये उस भावना को अवश्य उजागर करते हैं, जो किसानों के मन में नए भू-स्वामियों के लिए हैं। 'ज़मींदार का साथ हाथ छोड़ेंगे', निश्चय ही बड़ा प्रभावशाली सामयिक नारा है। निहत्थी भीड़ पर खुखरी चलवाकर 'जनता' पर विजय की खुशी का अनुभव जित्तन भी नहीं कर पाता। अवश्य ही जनता निहत्थी है, असंगठित है पर आसार अच्छे नहीं है, नया भू-स्वामी अपनी तात्कालिक विजय के बावजूद यह समझ रहा है। भविष्य में होनेवाले संघर्ष की चिन्ता उसके वर्तमान की जीत को उल्लासरहित बना रही है।

परती : परिकथा का लुत्तो जित्तन के विरुद्ध है। वह कलमबाग के सवाल को लेकर गाँव में सभा करता है, पर सभा में एक भी सोशलिस्ट-कम्युनिस्ट दिखाई नहीं पड़ता। किसानों के सवाल पर पार्टियाँ अलग-अलग लड़ना चाहती हैं। रेणु ने इस तथ्य को एक घटना के द्वारा ठोस ढंग से उदाहृत किया है। इस राजनीतिक विभाजन के कारण किसानों का संघर्ष पिछड़ जाता है। किसान अलग-अलग प्रभावों में हैं। जाति के प्रभाव में, पार्टियों के प्रभाव में। मगर उनका कोई वर्गीय संगठन सक्रिय नहीं रह गया है। हर पार्टी की अपनी-अपनी किसान सभा है। जेबी संस्थाएँ ही अधिक हैं। सब एक-दूसरे का 'रंग डिकलियर' करवाना चाहते हैं, मगर अपना रंग ही बदरंग करते हैं। अकेले भू-स्वामी के सम्मुख भी उनका संघर्ष एक नाटक की तरह बना रह जाता है।

लेकिन परिवर्तन हो रहा है, आंतरिक परिस्थितियाँ भी बदल रही हैं। न सही संयोजित-संगठित रूप में, स्वतःस्फूर्त ही सही। धीरे-धीरे ये स्थितियाँ राजनीतिक शक्तियों को मजबूत करेंगी, उन्हें अपने दायरे में ले आएँगी। उपन्यास की कथा में इसकी पूरी संभावनाएँ प्रकट होती हैं। घटना-क्रम की दिशा भी कुछ इसी ओर है। जयमंगल जैसा नौजवान भी अनुभव करता है, एकता के बिना संघर्ष संभव नहीं है। वह एकता की शपथ दिलवाता है। गाँव का भू-स्वामी ब्रह्मपिशाच है। बात लोगों को लग जाती है—नई शक्ल का ब्रह्मपिशाच। जनता की अपील के अपने मुद्दे हैं, अपना रूपक है, अपना मुहावरा है और अपने ठाठ हैं। युवकों ने मजमून बाँधना सीख लिया है।

बटाईदारों की लड़ाई ज़िन्दाबाद! भिम्मल मामा जानते हैं बटाईदारों की लड़ाई से कांग्रेस का नेतृत्व खतरे में पड़ जाएगा। किसान संघर्ष को हमेशा कांग्रेस ने अपनी सीमाओं में ही चलाया है। कांग्रेस की बनावट ही कुछ ऐसी है कि इसकी राजनीति इन संघर्षों से ख़तरे में पड़ जाती है। वे अपनी परानपुरी अंग्रेज़ी में सही बात कहते हैं। 'दे शेव दि लांग एंड ग्रोन प्रेस्टीज आव द रूलिंग पार्टी!' लुत्तो मामा को

ज़मींदारों का एजेण्ट कहता है। मगर अपनी राजनीति के लिए वह सोशलिस्टों-कम्युनिस्टों को भी एजेण्ट घोषित करता है।

सभापति के सामने समस्या है। वह लुत्तो की रौ को दबाना चाहते हैं, पर बीरभद्दर बाबू इशारा करते हैं—चलाए चलो! रेडियो में ज़मीन बाँटी जाती है और किसान-मज़दूरों पर गोरखा सिपाही की भुजाली चलती है। है न सैनियल लेक्चर! और इस रौ में लुत्तो वामपंथी पर भी दो हाथ लगा देता है। उसे क्या मालूम कि उसकी घोषणाओं में और उसकी पार्टी की कार्यनीति में खाई कहाँ है! वह नहीं जानता कि भूमि-संबंधी घोषणाओं में सामाजिक समझौते के अनेक तत्त्व वर्तमान हैं और तीव्र वर्ग-संघर्ष की स्थिति में ये समझौते जनता से उसे अलग कर देंगे। रेणु ने इस राजनीतिक परिणाम का बड़ा ही जीवंत और गंभीर चित्रण अपने इस उपन्यास की कथा में किया है।

लुत्तो की इस राजनीतिक त्रासदी को लेखक ने नाटकीय ढंग से उजागर किया है। वस्तुतः ऐसे स्थलों पर रेणु की नाटकीयता अत्यंत सजीव और धारदार हो जाती है। सामाजिक घटनाओं की गति, व्यापकता और तीव्रता के चित्रण में रेणु का नाटकीय कौशल ख़ूब रंग लाया है! *मैला आँचल* की अपेक्षा *परती : परिकथा* में यह नाटकीयता अधिक व्यापक परिघटनाओं से जुड़ गई है। उसमें सामयिक परिघटनाओं की अपेक्षाकृत अधिक अंतर्विरोधी स्थितियाँ शामिल दिखाई पड़ती हैं। काश! कुछ आलोचकों को नाटकीयता के साथ ये परिघटनाएँ भी दिख जातीं, तो वे उसे ज़्यादा अच्छी तरह समझ पाते। विकसित होते हुए यथार्थवाद के लिए नाटकीयता का महत्त्व उतना नहीं है, जितना परिघटनाओं का है। हम रेणु की नाटकीयता को व्यक्तिगत अनुकार्यों से परिभाषित नहीं करना चाहते। इससे उसका कलात्मक महत्त्व कम हो जाता है।

सभा ज़रूर हुई, लेकिन परती के सवाल पर आंदोलन खड़ा नहीं हुआ। गाँव की सामान्य जनता लुत्तो के पक्ष में नहीं आ सकी। जित्तन अपनी परती जोत रहे हैं, दूसरों को क्या! निरसू भगत का नाटक भी परती की समस्या को लेकर सार्थक न हुआ। जित्तन के विरुद्ध कोई ख़ास कार्रवाई न हुई। संघर्ष का ठीक मुहिम तैयार न हुआ।

पर इस किसान संघर्ष की पृष्ठभूमि में अन्य गतिविधियाँ अवश्य तेज़ हुईं। इन सामाजिक गतिविधियों का उपन्यास में अपना महत्त्व है। मूल कथा से अविभाज्य रूप में जुड़ी हुई ये गतिविधियाँ उपन्यास के यथार्थ परिदृश्य को उजागर करती हैं। इन छोटी-छोटी परिघटनाओं का महत्त्व अपने अलगाव में नहीं है। पूरे परिदृश्य के रूप में ही ये एक सार्थक घटना-क्रम को जन्म देती है।

भूमि-समस्या के साथ-साथ उत्पादन संबंधों का बदलाव भी *परती : परिकथा* का संगत कथ्य है। अवश्य ही सामाजिक संस्थाओं के ढाँचे पर इसका दूरगामी प्रभाव पड़ा है। निचले वर्ग के लोगों की सामाजिक परिस्थितियों में जो अंतर आया है,

उससे उनकी आशा-आकांक्षा में अपेक्षित बदलाव पैदा हुआ है। फेंकनी की माँ एक प्रसंग में कहती है —

'आवई जमाना नहीं है कि बामन-छतरी मनमानी करें और सोलकंह लोग-आकि देखो—छोड़ के बात कहे। इनकिलाफ़ तो इनकिलाफ़!...'

लुत्तो के मन में आग भरी है, वह अपने बाप का बदला लेगा। इस व्यक्तिगत द्वेष में जाति का आधार काम आता है। उसके साथ जितेन्द्र के विरुद्ध चार हज़ार छोटी जाति के लोग हैं। अब वह लुत्तो नहीं, लुत्तो बाबू हैं। कांग्रेस का 'जननेता'! इस प्रकार सामाजिक संबंधों के बदलाव के कई प्रसंग इस उपन्यास में आते हैं। पर इस जातिवादी संसज्जन से पृथक् भी एक प्रक्रिया जैसे अंतःसलिला की तरह चलती रहती है। मलारी का सुवेश से प्यार। प्यार की जाति नहीं होती। जित्तन भी तो ताजमनी से प्यार करता है, पर जित्तन ज़मींदार है, वह ताजमनी के साथ गाँव में रह सकता है। उसे अपने घर बिठा सकता है, लेकिन सुवेश तो साधारण किसान का बेटा है, वह गाँव में चमार की लड़की को लेकर नहीं रह सकता।

मलारी-सुवेश गाँव छोड़कर भाग खड़े होते हैं। इस घटना से विश्व प्रसिद्ध अर्थशास्त्री गुन्नार मिर्डल की यह बात प्रकट होती है कि हमारे विकास में सबसे अधिक बाधक तत्त्व हमारी संस्थाएँ हैं। विवाह नामक व्यापक संस्था तो उस जड़ता से और भी ग्रस्त है। रोटी-बेटी का संबंध ही रक्त-संबंध की पहचान है। खैर, रोटी का संबंध तो कुछ टूटा है, पर बेटी का संबंध! जित्तन को मलारी और सुवेश की माएँ मिलकर कोसती हैं। उसने शायद मलारी-सुवेश की मदद की है। या शायद उन्हें यह शक है कि इस पूरे षड्यंत्र में सूत्रधार का काम जित्तन ने किया है। कोसने का यह प्रसंग अत्यंत सवाक् है। कोसना क्या हुआ, पूरी कथा की उद्धरणी हो गई।

गाँव का तमाम जीवन कुछ संस्थाओं और संस्कारों से बँधा है। जातियाँ ऊँची हों या नीची, अपनी-अपनी संस्थाओं की समान जड़ता का शिकार है। (सवर्ण समाज के संस्कार अवर्णों को भी बाँध रखते हैं।) यहाँ कोई अंतर नहीं है, सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए संस्कारों का निर्वाह एक-सा विहित है। ये सामाजिक संबंध ग्राम-समुदाय में अखंड हैं, अपरिवर्तनीय हैं। ऊपर-नीचे के लोग समान रूप में इनसे परिचालित हैं। उल्लंघन सामाजिक अपराध है—सामाजिक बहिष्कार ही उनका परिणाम है। इस प्रेतछाया से दूसरे तमाम लोग ग्रस्त हैं, सिवा उनके जो स्वयं अपराधी हैं। इस अपराध की सज़ा उनकी संतान को मिलेगी—हरामीपन और नरक! नरक-दर-नरक उन्हें यात्रा करनी पड़ेगी। ऐसे सामाजिक अपराधियों को केवल धन मुक्त कर सकता है।

सुवेश की दुस्साहसिकता ने मिनिस्टर साहब को भी अचरज में डाल दिया है। मगर बालगोविन मोची का माथा तो अब ज़्यादा ही झुका रहता है। गाँव में इस घटना की भी राजनीतिक उपयोगिता है। शिव भद्र खुलेआम प्रचार कर रहा है—'मलारी को खजवाटोपीवालों ने भगाया है।'

भूमि-समस्या को सुलझाने के लिए एक और आंदोलनकारी मसीहा गाँव में आया है—भूदान का मसीहा! पर भूदान के कार्यकर्त्ताओं को ज़मींदारों के लठैत मार भगाते हैं। बड़े किसानों ने सहयोग किया था मगर सर्वे के समय सारी बात उलट गई। सर्वे ने उन्हें दान की ज़मीन पर भी चढ़ जाने को बाध्य कर दिया। लुत्तो सर्वोदयवालों से इसलिए नाराज़ हैं कि उसे कमीशन नहीं मिला। सर्वोदय कार्यकर्त्ता मौज में हैं। खँजड़ी बजानेवालों को भी मुसहरा मिलता है!! लुत्तो को ठीक ही लगता है—हर जगह हुज़ूर हैं, हर जगह मज़ूर हैं। लुत्तो ने साफ़ कह दिया कार्यकर्त्ताओं से—'यहाँ कांग्रेस कमेटी का दफ़्तर मेरी पाकिट में है, पाकिट में रहिएगा?'

ज़मीन का ब्यौरा दानियों ने नहीं दिया और नेता को आमरण अनशन की घोषणा करनी पड़ी!

और इधर गाँव तेज़ी से भाग रहा है 'अनिश्चित' अपरिभाषित भविष्य की ओर! पहले से भी ज़्यादा तेज़ी से दौड़ रहा है सारा समाज! मगर इस वेग में दिशा भी है क्या? केवल परिवर्तन का वेग बदला है मगर क्या उसी अनुपात में समाज भी बदला है? कुछ वर्ग जेट प्लेन पर हैं पर समाज तो बैलगाड़ी पर ही है। यह अंतर्य किस यथार्थ को उजागर कर रहा है।

पंचायत के चुनाव के साथ एक और परिवर्त्त की संभावनाएँ सामने आती हैं। राजनीतिक गतिविधियाँ तेज़ होती हैं। सोशलिस्ट, कम्युनिस्ट, कांग्रेसी सभी मैदान में हैं, पर ये सरगर्मियाँ कुछ ख़ास धार पैदा नहीं करतीं। जनमत का राजनीतिक स्थिर स्वरूप नहीं बनता। पार्टियाँ नहीं समझ पातीं, कार्यकर्त्ता भी नहीं समझ पाते कि ऐसा क्यों हो रहा है? राजनीति गाँवों में सुस्थिर क्यों नहीं होती? क्यों हर घटना के साथ राजनीति के चेहरे बदल जाते हैं—दक्षिणपंथी अवसरवाद, वामपंथी अवसरवाद! ऐसा लगता है, जैसे राजनीति अवसर से परिचालित होती है। कुछ ख़ास लोगों की अपनी पार्टियाँ हैं, पार्टियों के अपने हलके हैं। जयदेव सिंह की पार्टी इस पंचायत चुनाव में तटस्थ रहेगी—न विरोध, न समर्थन!

जित्तन के सपने साकार हो गए, लेकिन किसानों का भाग्य उन्हें छलता रह गया। बड़े भू-स्वामियों के हित में तो सपने गए पर किसान समय पर पुल नहीं बना सका! वह अपने किनारे पर खड़ा-खड़ा गति को देखता रह गया। वेग ने उसे केवल अपने किनारे पर छुआ! शायद इस बहाव में वह और त्रस्त होकर रह गया है! *परती : परिकथा* से बाहर कुछ जो घटित हुआ, वह भी परती तोड़नेवाले भू-स्वामी के हित में, सामान्य किसान के हित में नहीं!

समस्याओं की दुनिया में

अपने दो बृहत् उपन्यासों को समाप्त करने के बाद रेणु ने एक ऐसी दुनिया में प्रवेश करने की चेष्टा की है, जो कई अर्थों में परस्पर विरोधी यथार्थ से जुड़ी है। यह दुनिया उच्छेदित समुदाय की विडंबनापूर्ण पहचान, शहरी मध्यवर्ग और उसमें स्त्रियों की स्थिति, कामकाज़ की एक नई दुनिया में प्रवेश करनेवाले नारी कामगारों, श्रमिकों और अपवाद रूप में निकटतम अतीत के स्वतंत्रता-संग्राम की समस्याओं से परिभाषित होती है। ये समस्याएँ किसी-न-किसी रूप में हमारे आधुनिक जीवन में आकर या तो जड़ हो गई हैं या फिर नया बदलाव चाह रही हैं। रेणु के छोटे उपन्यासों में उन्हें एक परिप्रेक्ष्य प्राप्त तो होता है, पर ये रचनाएँ उस तरह का कोई आसार प्रकट नहीं करतीं, जैसा *मैला आँचल* से प्रकट हुआ था।

दीर्घतपा, जुलूस, कितने चौराहे और *पलटू* बाबू रोड ऐसे ही लघु उपन्यास हैं। लगता है, अपने इन उपन्यासों में प्रयोग के लिए रेणु नए अनुभवों की संभ्रमपूर्ण स्थिति से गुज़र रहे थे। उनके मन में एक और नई ज़मीन तोड़ने की लालसा कहीं बनी हुई थी। वे इन समस्याओं के मार्ग से आधुनिक जीवन के उस बृहत्तर क्षेत्र में प्रवेश करना चाहते थे, जिसके बिना किसी बृहत्तर उपन्यास की संभावना बन ही न सकती थी। बात-बात में वे कहा भी करते थे कि एक बार फिर *मैला आँचल* के पात्रों से नई परिस्थितियों में मुलाक़ात करना चाहेंगे। और वह भी जेल में। कथानक का आकार उनके भीतर पक रहा था।

जुलूस इस दिशा में एक आकर्षक और गंभीर प्रयोग हो सकता था। उसमें रेणु ने एक बड़े समुदाय के उच्छेदन और पुनर्वास की भावनात्मक समस्या के माध्यम से जातीय अंतर्लयन के प्रश्न पर विचार ही नहीं किया है, उसे एक सामाजिक घटना-क्रम में साकार भी किया है। *जुलूस* की चर्चा करते हुए अचानक *झूठा सच* के 'देश और वतन' खंड की याद आती है, जिसमें यशपाल जी ने दो राष्ट्र के सिद्धांत की राजनीतिक सामाजिक-परिणतियों के विडंबनापूर्ण भविष्य का बड़ा गहरा अर्थ-संकेत व्यक्त किया था। उच्छेदित समुदाय को एक देश तो मिला, पर वतन छिन गया। इस राजनीतिक देश में उनका अपना समाज न था। एक सर्वथा दूसरी लय के साथ एक होने की समस्या इसलिए भी भावात्मक रूप में जटिल हो गई थी।

यह जातीय उच्छेदन केवल पश्चिम में नहीं हुआ था, पूरब में भी हुआ था। इस पूर्वी क्षेत्र की समस्याएँ और भी जटिल थीं। भारत का यह पूर्वी क्षेत्र ग़रीब किसानों, मज़दूरों और ग्राम-कर्मियों का था। पंजाब की तुलना में पूर्वी बंगाल के आप्रवासियों का सामाजिक स्वरूप, सर्वथा भिन्न था। पूरब से आनेवाले ये ग़रीब लोग अपेक्षाकृत पिछड़े हुए, अशिक्षित, कुपोषण से पीड़ित और अमानवीय यातना के शिकार लोग थे। सबसे बड़ी समस्या इनके सम्मुख भाषा की थी, जिसके कारण वे अपने पुनर्वास के देश से एक न हो पा रहे थे। पंजाबी शरणार्थियों के साथ ऐसी दूरी न थी। *जुलूस* इन्हीं पूर्वी शरणार्थियों के बिहार में पुनर्वास का कथानक लेकर चला है।

आज़ादी देश के विभाजन के साथ आई थी और विभाजित-उच्छेदित लोगों के लिए अकल्पित आयाम की समस्याओं से घिरकर आई थी। लंबे संघर्ष के बाद जिस तथाकथित भविष्य में यह जन-समुदाय उछाल दिया गया था, उसकी कुछ अपनी विडंबनाएँ थीं। यह समुदाय हिन्दुओं का था और भागकर इस आशा से आया था कि उसे सचमुच अपनी मिट्टी और जन को संरक्षण मिलेगा। मगर हुआ कुछ और ही! ···पूर्णियाँ के उस आवास कैम्प को स्थानीय लोगों ने कहा, 'पाकिस्तानी टोला'···

यातना के बाहरी आकार से यह भीतरी प्रतीति ज़्यादा दुःखद थी। देश और जन के साथ अंतर्लयन में अप्रत्याशित दूरियाँ पैदा हो रही थीं। देश से भी अधिक जन के साथ। अपनी नायिका के माध्यम से इस बोध को रेणु ने किसी शोक-गीत की कड़ी की तरह अंतर्ध्वनित होने दिया है।

दुर्भाग्य यह है कि जो तत्त्व इन विस्थापितों के प्रति सहानुभूति दिखला रहे हैं, वे असामाजिक हैं और उनकी नीयत साफ़ है, चाहे वे स्थानीय हों या क्षेत्रीय हों, साधारण हों या प्रभावशाली। इस परिस्थिति के घिराव-तनाव को एक बार फिर एक जीवित समुदाय के साथ जोड़कर रेणु जो प्रयोग करते हैं, उसकी अत्यंत तीखी और व्यापक संभावनाएँ थीं···। पर न जाने क्यों *जुलूस* का कथानक अचानक ही जड़ हो गया···उसे नाटकीयता से भरना अनुचित होता। अच्छा हुआ कि इस कथानक की खींचतान रेणु ने अधिक न की।

जुलूस यातना भरी पीड़ा से बढ़कर चीख़ न बन सका। लेकिन फिर भी, उसमें ऐसे अंतर्मार्ग तो बन ही जाते हैं जिनसे होकर हम एक सर्वथा भिन्न प्रकार के 'देश' में आ जाते हैं। *जुलूस* की गति देश में जितनी है, शायद काल में उतनी नहीं है। वस्तुतः पुनर्वास की समस्या का काल-संबंध उतना मौलिक नहीं होता। जितना देश का संबंध होता है। धर्म-संस्कार से एक होकर भी दो समुदायों का भेद कहीं जड़ता की हद तक बना रह जाता है, तब समस्या गंभीर हो जाती है। पाकिस्तानिया टोली के ये ग़रीब हिन्दू पूर्णियाँ की धरती पर अजनबी बने रह जाते हैं, तमाम सदिच्छाओं और सरकारी सद्भावना के बावजूद! शायद उनका इस देश के साथ उतना एका भी न हुआ जितनी पश्चिमी पंजाबी जन-समुदाय का हुआ।

उपन्यास वस्तुतः उस दिशा में आगे न बढ़ा और न कथा के परिपार्श्व-विस्तार के लिए अंतर्कथाएँ ही तैयार की गईं। ये तमाम लघु उपन्यास अपनी संरचना में पार्श्वधर्मी न होकर एकात्मक लक्ष्य की ओर उन्मुख थे—एक समस्या तक केन्द्रित समस्या थी जातीय अंतर्लयन की, पर यह समस्या केवल सद्भावना से हल न हो सकती थी। भारतीय गाँवों में जो कठोर जाति-व्यवस्था और स्थानीयता है उससे सारे प्रयत्न बाधित होते हैं। रोटी-बेटी का संबंध हुए बिना समुदायों का परस्पर संबंध नहीं बनता। सरकारी व्यवस्था यह नहीं कर सकती; इसे सामाजिक परिवर्तन से ही संभव बनाया जा सकता है। रेणु ने रोमांस का थोड़ा ऐसा सामाजिक रंग दिया होता, तो कथा में अधिक नाटकीय तीव्रता आ जाती। *मैला आँचल* में उन्होंने इस दिशा में क़दम उठाया भी था।

उपन्यास एक जीवित समस्या से प्रारंभ होकर छोटी-छोटी गतिविधियों में समाप्त हो गया। ये छोटी गतिविधियाँ भी अपनी संश्लिष्टता में एक ऐसा रूप प्राप्त कर सकती थीं, जिनसे गतिशीलता और अंतरावलंबन को बल मिलता, पर एक अच्छी, उत्तेजक और सामयिक कथा बिखर गई। नाटकीय उपचारों के बावजूद उसमें वह प्रभाव उत्पन्न न हुआ, जो रेणु की क़लम से आना चाहिए था। इसके लिए *जुलूस* को झूठा-सच बनाने की आवश्यकता न थी।

दीर्घतपा प्रकाशित हुई, तो उससे बड़ी आशाएँ थीं। धरती—दीर्घतपा और नारी। भारतीय समाज में नारी के ताप से अधिक तपी ज़मीन कहाँ मिलेगी। जहाँ धरती सिर्फ़ तपती है, वहाँ नारी संतृप्त होती है। आज मध्यवर्ग की परिस्थितियों ने घर-बाहर की समस्याओं को स्वतः हल कर दिया है। नारी घर के बाहर आ गई है। कार्यकारी स्त्रियों का जीवन घूरे पर उगे कुकुरमुत्ते जैसा है। वर्तमान समाज में नाभिनाल से टूटी हुई यह परिस्थिति सचमुच आज भी उतनी सह्य नहीं है। यहाँ जीवन दीर्घताप से तपता है।

कथा कार्यकारी स्त्रियों के हॉस्टल के परिवृत्त में सीमित है। मगर उसकी जड़ें पूरे समाज में कहीं दिखाई देती हैं। उसे एक अलग दुनिया की तरह ही देखा जा सकता है। फिर भी यह दुनिया अनेक अपवादों, शंकाओं और चर्चाओं का विषय है। शहरी जीवन भी वस्तुतः सामंतवादी सामाजिक जकड़नों से सर्वथा मुक्त नहीं है। एक द्वीप की तरह अलग-थलग बसे इस संसार की भीतरी परिस्थितियाँ और भी विचित्र हैं। जो सहयोग और एकता उस छोटी-सी दुनिया में होनी चाहिए, वही ग़ायब है।

ऊपर से एक ओर संश्लिष्ट दिखनेवाला यह समुदाय भीतर से टुकड़े-टुकड़े बँटा है। हर व्यक्ति एक द्वीप है। अपने आप में बंद और कसा-कसा। एक आततायी अवस्था इसे और भी असह्य बना देती है। रेणु इस परिवेश को और भी गहरा रंग दे सकते थे, उनमें ऐसी क्षमता की कमी नहीं दीख पड़ती। वैसे उदास रंगों का भी अपना प्रभाव तो होता ही है। गहरे रंग देने का अर्थ घटना की नाटकीयता से नहीं

लिया जाना चाहिए। उसे संघर्ष की ज़्यादा व्यापक मनःस्थितियों से जोड़ा जाना चाहिए था। उसके लिए अपने द्वीपवत् पात्रों को अतीत में ले जाना ज़रूरी न होता।

कार्यकारी महिलाओं कुमारियों के जीवन पर एक प्रामाणिक रिपोर्टिंग भी काफ़ी से ज़्यादा जानदार हो सकती थी। इनपर लिखना इसलिए भी ज़रूरी था कि हमारे बुर्जुवा समाज की ये संस्थाएँ धीरे-धीरे समाज में उगती तो रही थीं, पर उन्हें सामाजिक मान्यता प्राप्त न थी। इस अमान्य समुदाय को अपने सामाजिक अस्तित्व के लिए निरंतर संघर्ष करना था। महानगरों में ये संस्थाएँ स्वीकार की जा चुकी थीं या यों कहें कि उन्हें अन्य आवश्यकताओं की ही तरह स्वीकार कर लिया गया था, पर सामान्य प्रांतीय शहरों और राजधानियों तक में स्थिति अत्यंत जटिल बनी हुई थी। इस पृष्ठभूमि में *दीर्घतपा* को इस नाम की वास्तविक मर्यादा मिल सकती थी।

सामंती समाज में श्रम को ऊँची दृष्टि से नहीं देखा जाता। काम करनेवाला कमीन हो जाता है। यह संस्कार कुछ इतना जड़ हो गया है कि श्रम के प्रति हमारा कुछ रवैया संदेह का भी हो गया है। सामाजिक ग़ैर-बराबरी की स्थिति में आत्मनिर्भरता के लिए जो थोड़ी आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त हुई हैं, उन्हें सामाजिक दृष्टि ही तोड़ती है। *दीर्घतपा* में इसकी पृष्ठभूमि तैयार की गई और उसके लिए एक उचित प्रामाणिक परिवेश भी चुना गया। पुरैनिया-मेरीगंज के परिवेश से भिन्न पटना नगर-समाज के केन्द्र में कथा लाई गई, पर इसके बाद जैसे उसमें गाँठें पड़ने लग गईं। ऐसा लगता है कि यह उपन्यास वहीं समाप्त हो जाता है, जहाँ से चरित्र खुलने लगते हैं और स्थितियाँ टूटने की स्थिति तक पहुँच जाती है।

दीर्घतपा में नाटकीयता पात्रों में नहीं आती, परिवेश से आती है। स्पष्ट है कि उसका स्रोत जीवन से अलग होकर *वातावरण* तक सीमित हो जाता है। यह वातावरण भी अपने आप में एक बंद परिवेश ही है, जिसमें हलचलों की जगह असह्य तनाव भरे हैं। इन तनावों में भी आत्यंतिक संभावनाएँ थीं और *दीर्घतपा* में रेणु उसका जीवित उपयोग कर सकते थे। मेरी दृष्टि में *दीर्घतपा* में बिना किसी अंतर्क्षेप के कथानक का अंतर्विस्तार संभव था। रेणु के पास अवश्य ही यह कला रही थी, जो घटना के बाहर भी अपनी सक्रियता सिद्ध कर सकती थी, लेकिन *दीर्घतपा* में कथानक को बाहर-भीतर से लेखक ने बंद रखा, उसे खुलने का अवसर भी न दिया।

सबसे बड़ी सीमा इस उपन्यास में चरित्रों की है। सामान्यतः परिस्थिति की सपाटता से चरित्र की रंग-रेखाएँ भी उभर नहीं पातीं। चरित्र खुलने के लिए चीख़ भी नहीं पाते। चरित्रों के साथ रेणु जिस तरह आत्मीय होते हैं, उसका बहुत अच्छा प्रमाण इस उपन्यास से तो कम-से-कम नहीं मिल पाता। सहानुभूति देकर भी रेणु इन घिसटते पात्रों में स्वलक्षणशीलता पैदा नहीं कर सके। वस्तुतः इन चरित्रों में विस्तार की संभावनाएँ थीं, उन्हें उनके अंतर्मार्गों से ही प्राप्त किया जा सकता था। मगर चरित्रों से होकर कोई अंतर्मार्ग इस उपन्यास से नहीं निकलता। *वातावरण*

आवश्यकता से अधिक एकरस बना रहता है और इक्का-दुक्का नाटकीय सूचनाएँ भी इस एकरसता को तोड़ नहीं पाती।

दीर्घतपा का प्रकाशन उसकी रचना के दो वर्ष बाद संभव हुआ। अपने इस उपन्यास की भूमिका में लेखक ने इसका उल्लेख किया है। साथ ही, उसने इस उपन्यास को आंचलिक-अनांचलिक घेरे से बाहर लाकर मात्र उपन्यास कहा है। उपन्यास की विषय-वस्तु का संबंध एक सहकारी संस्थान में कार्यरत (प्रशिक्षणरत) महिलाओं की उस आंतरिक दुनिया से है, जिसकी जड़ता और हलचलें कतिपय लाक्षणिक विशेषताओं को जन्म देती हैं।

वर्किंग विमेन्स हॉस्टल हर बड़े शहर में उग आई नई संस्थाओं में एक है। छोटी मेम साहब (मिस बेला गुप्त) और बडी मेम साहब (मिसेज़ आनंद) के बीच अटकी पड़ी इस दुनिया की अपनी परिस्थितियाँ हैं, अत्यंत जटिल और नाटकीय; पर अधिकारों की ओट में अत्यंत घृणित क़िस्म का संघर्ष इस उपन्यास में चलता है। मिसेज़ आनंद हर ऐसी संस्था की नई अधिकारप्राप्त 'शासिका' हैं जिनका उपयोग अनेक शक्तियों और व्यक्तियों द्वारा होता है। बेला गुप्त इस 'तंत्र' के विरुद्ध एक मानवीय दुनिया के लिए संघर्षरत, किन्तु विवश चरित्र है।

वर्किंग विमेन्स हॉस्टल में पात्रों की भीड़ होना स्वाभाविक है। अपने-अपने नाभि-नाल से कटे इन पात्रों की इस नई दुनिया में कई अंतर्विरोध हैं और इन अंतर्विरोधों से उत्पन्न एक समस्या है। यह समस्या पुनर्वास की तरह ही जटिल है। इस अर्थ में हम इस उपन्यास को *जुलूस* से भिन्न किन्तु उसकी ही एक अगली कड़ी की तरह देख सकते हैं। बेला गुप्त इस दुनिया के केन्द्र में है, एक दृढ़ संकल्प किन्तु विवश नारी! और इनके साथ-साथ इस दुनिया में क़ैद तमाम चरित्र (पात्र) हैं। अंजु-मंजु, रमला और गौरी जैसी लड़कियाँ भी हैं और रामरति जैसी अनुभवी परिचायिका भी हैं। इनके अलावा भी कई महिला पात्र हैं, जैसे चंद्रमोहिनी, विभावती, रुक्मिणी और कुंती देवी। इस प्रकार इस दुनिया के भीतर की दुनिया और भी विभाजक रेखाओं से बनती है। कुंती देवी से शेष तीनों लड़कियाँ नहीं बोलतीं। कारण! कारण संकेत से ही पहचान में आता है। मिस बेला गुप्त को विभावती में अपनी प्रतिकृति अगर दिखाई पड़ती है तो इसमें आश्चर्य भी क्या है!

इसी दुनिया का एक पात्र सुखमय घोष भी है। कलाकार की अतृप्त आत्मा लिए इस पात्र की पीड़ा भी उसी एकांत की पीर है जिसे बाहर से पहचान पाना असंभव है। मिसेज़ आनंद अपने अंदाज़ में जब उसे 'घोष्ट' कहती हैं तो लगता है कि इस व्यतिक्रम में भी एक नियति ही मूर्त्त हो रही है। मिसेज़ आनंद इस कलाकार को अपनी दया के घेरे में लेकर छोटी मेम साहब के विरुद्ध तैयार करती हैं। दुश्चक्रों भरे इस कथानक में अवश्य ही रेणु ने यहाँ आत्मा डाल दी है, पर कथा इस आत्मीय स्थिति से भी अपनी जड़ता का ही एक अंग बनकर घिसटती चली गई

है। बाहरी दुनिया से उसका संपर्क अत्यंत घृणित एवं आतंककारी स्थितियों में होता है—पी.साहब और डी.साहब जैसे तथाकथित साहबों द्वारा उत्पन्न स्थितियों में।

इनके बीच प्रोफ़ेसर रमा निगम और रेवा वर्षा जैसे दबे-घुटे पात्रों की स्थिति और भी विचित्र है। इन्हें इस दुनिया से आंतरिक समझौता करना पड़ता है। अपनी सत्ता का यह विसर्जन कितना मारक है! मगर मारक परिस्थितियों की इस छाया में ही ज़िन्दगी चलती रहती है, व्यर्थता और जड़ता से आहत, निस्सहाय *दीर्घतपा* नारी की यह रोज़मर्रा की ज़िन्दगी हमारे सामने अनेक समस्याएँ उत्पन्न करती हैं, विचलनों की समस्या! यह विचलन तथाकथित आधुनिक ज़िन्दगी का एक अनिवार्य अंग है। इससे बचा नहीं जा सकता। मिस बेला गुप्त भी इस विचलन का शिकार हो जाती हैं। लेखक के शब्दों में यह हीन मनोवृत्तियों का कोहरा है जो पूरे समाज पर छा गया है। मिस बेला गुप्त गिरफ़्तार हो जाती हैं; इसी हीन मनोवृत्तिवाले तंत्र का शिकार बन जाती है।

इन कठोर और प्रायः अनम्य परिस्थितियों के बावजूद उपन्यास के कोमल तंतु यहाँ-वहाँ बिखरे पड़े हैं। गौरी, मिस बेला गुप्त इन्हीं कोमल तंतुओं में हैं, जिन्हें अंततः बिखरना पड़ता है। कोमल और कठोर के इस तनाव में ऐसा होना स्वाभाविक हो सकता है, पर वह एक नैतिक संकट उत्पन्न करता है—वर्तमान समाज का नैतिक संकट। लेखक यदि इस नैतिक संकट को किसी और भी कोण से उभार पाता तो इस उपन्यास की संभावनाएँ खुल पातीं। लगता है, जैसे खुलने के लिए आतुर इस उपन्यास की कथावस्तु को अचानक ही लेखक ने समाप्त कर दिया है। खुलने की छटपटाहट भर से संतोष कर लेना इस कथावस्तु के साथ अत्याचार जैसा नहीं लगता है? रेणु को स्वयं भी ऐसा लगता है जैसे 'इस उपन्यास की प्रधान नायिका ने ही उन्हें छला है!' मगर यह 'छल' नहीं, अदृश्य हाथों से गले से उभरनेवाली चीख का रोध है जो इस उपन्यास में हमें आहत और निस्तब्ध कर जाता है।

दीर्घतपा निश्चित रूप से आधुनिक जीवन की विडंबना को समाज के एक ऐसे व्यापक स्तर पर प्रकट करता है जिसमें भावी पीढ़ियों की नियति भी वर्तमान से जुड़ी दिखाई पड़ती है। उस अन्नपूर्णा का क्या होगा जिसके लिए मिस बेला गुप्त ने सारी यंत्रणाएँ चुपचाप झेल ली हैं। मगर यह रास्ता हमें एक अंधी गली में लाकर छोड़ देता है। उपन्यास की समाप्ति अवश्य ही अत्यंत करुणापूर्ण है, पर इससे ज़्यादा कुछ नहीं। सकरुण, मार्मिक आदि विशेषणों से भरकर भी हम इस समस्या को संपूर्णता तक नहीं पहुँचा पाते।

रेणु के बृहद् उपन्यासों की तरह ही उनके समस्यात्मक उपन्यासों में भी घटना-चक्र की प्रबलता में कोई विशेष अंतर नहीं आता। लगभग सारे उपन्यास एक हलचल भरे परिवेश का संकेत देते हैं। अंतर बस इतना है कि जहाँ पहले दो उपन्यासों का परिवेश आंचलिक होकर भी बहुत फैला हुआ है, वहाँ इन उपन्यासों में ऐसा विस्तार नहीं है। *पलटू बाबू रोड* एक परिवार के केन्द्र में परिवर्तित होते हुए क़स्बे की रोमांचक

कहानी है, जिसमें अपने छोटे रूप में, अनेक समकालीन वास्तविकताएँ प्रतिकृत हुई हैं, पर इस प्रतिकृति में वह जीवंतता नहीं है, जो पहले के दो उपन्यासों में है। तेजी से बदलते हुए क़स्बे की कहानी में कहीं आंतरिक बिखराव भी लक्षित होता है। कथा आज़ादी के तत्काल बाद के घटनाक्रम से जुड़ी है।

राय परिवार का आंतरिक यंत्र बिगड़ा हुआ है। परिवार का हर सदस्य इस बिगड़ी हुई और यांत्रिक स्थिति से चिढ़ा हुआ है, सिर्फ़ बिजली और लट्टू बाबू को छोड़कर। बिजली स्थानीय गोछमल के साथ सीमेण्ट कंपनी में पार्टनर (हिस्सेदार) है। बैरगाछी के राय परिवार की यह असंभवता एक कुमारी की पूरी ज़िन्दगी पर छाई है, छाई रहेगी। *पलटू बाबू रोड* का धारावाहिक प्रकाशन (*ज्योत्स्ना*, पटना) अचानक रुक गया था। फिर यह लंबे अर्से के बाद, रेणु के देहावसान के बाद, प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास की बिजली मुझे निःस्तब्धता की हद तक प्रभावशाली लगी थी। बिजली की निःस्तब्धता अब भी बरक़रार थी, पर उसके अतिरिक्त घटनाक्रम ने नया मोड़ ले लिया था। गोछमल के चुंबनों को निर्विरोध सहती हुई बिजली जैसे अपनी निःस्तब्धता में ही घटना-प्रवाह के साथ बहती रहती है। गोछमल-मुरली मनोहर का भेद अब उसके लिए प्रायः अर्थहीन हो गया है। वह अपनी नियति के आर-पार देखने लायक तो हो ही गई है। परिस्थितियों ने उसे भीतर-बाहर से समान रूप से निरर्थक कर दिया है। अपनी निःस्तब्धता में उसका आंतरिक आकार और स्पष्ट हो उठता है। *पलटू बाबू रोड* में अमलेन्द्र राय का परिवार कभी अपने उत्कर्ष पर था। आज एक पतनशीलता उसके भीतर-बाहर व्याप्त है। बिजली इस पतनशीलता के केन्द्र में है। तीन-चार पीढ़ियों के इस परिवार की कथा एक पूरी शताब्दी को छूती है, पर यह स्पर्श भी कितना टेढ़ा है। मृत्यु-सा शिलीभूत स्पर्श! पर देश-काल तो इस परिवार के बाहर भी है, जो निरंतर बदल रहा है। मगर यह परिवर्तन कहाँ ले जा रहा है हमें! *पलटू बाबू रोड* कहाँ ले जा रही है हमें! काश! रेणु इस समस्या पर एक भरा-पूरा उपन्यास लिख पाते!

पत्थर के बाड़े ने बिजली की ताल जैसी ज़िन्दगी को अपनी उदासी से बार-बार आहत किया है। परिवार की इस दीवार को तोड़कर निकल जाने का कोई मार्ग नहीं है—'आर पारि ना'! कितनी असमर्थ है बिजली! उसकी असमर्थता को पारदर्शी बनाकर रेणु ने एक बड़ा कार्य अवश्य ही किया है। दीर्घतपा नारी की दूसरी क़िश्त है शायद यह उपन्यास। बैरगाछी में राय परिवार के साथ जिस व्यक्तित्व की बरगद जैसी छाँह जुड़ी हुई है, वह है पलटू बाबू। पलटू-लट्टू के संयोग की भी एक रोचक अंतर्कथा है—रोचक और साथ ही जड़ता भरी! इन्हीं लट्टू बाबू की लड़की आजकल छोगमल की छत्रछाया में है। छेटा-फेला और रमा छवि, कना किशोर-किशोरियाँ हैं। *फूलबगान* की यह दुनिया विक्टोरियन से ज्यादा पिकारेस्क है। विक्टोरियन पतनशीलता और पिकारेस्क उपसंकरण की एक विचित्र दहशत भरी कहानी, जो तथाकथित आधुनिकता के संदर्भ में और भी त्रासद हो गई है।

राय परिवार के साथ भोला सहाय के परिवार की कहानी जुड़ी हुई भी है और स्वतंत्र भी है। दोनों के सूत्रधार पलटू बाबू हैं जिनकी हर उँगली में एक सूत है, जिनसे अपना पुतली-नाच ज़ारी रखते हैं। यहाँ माणिक वंद्योपाध्याय की 'पुतुल नाचेर इतिकथा' की याद स्वाभाविक रूप से आती है, पर कितना अंतर है इन दो कथाओं में! पलटू बाबू के संकेत पर ये तमाम पुतलियाँ नाचती रहती हैं और एक दिन अचानक वह हाथ सदा के लिए कार्य करना बंद कर देता है। मगर तब तक बिजली, फेला, घंटा, छवि, कना और सबसे अधिक कुंतला की ज़िन्दगियाँ बदल चुकी होती हैं। शायद वह अपने पैरों पर खड़ी होने में असमर्थ हैं!

कुछ अर्थहीन लगनेवाली ज़िन्दगियों की यह कहानी क्या सचमुच अर्थहीन है! या उसमें एक पूरे उत्थान का मर्मांतक दर्द भरा हुआ है। इस अवसादक परिस्थिति के प्रति रेणु की उन्मुखता निरर्थक नहीं हो सकती। वे इस परिवर्तन की दिशा को ही तो पहचानने का भरसक प्रयत्न कर रहे हैं। ऊपर से यह परिवर्तन जितना तीव्रगामी है, भीतर से वह उतना ही खोखला क्यों है! यह परिवर्तन किसके हित में है! किन निहित स्वार्थों की आपूर्ति करता है! कहाँ जा रही है यह सड़क और कहाँ ले जा रही है हमें! उपन्यास की यह समस्या क्या पूरे सामाजिक विचलन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है?

परिवार के केन्द्र में आर्थिक-सामाजिक समस्याओं से घिरे युवजन की मानसिकता को समझने के लिए हमें इस उपन्यास की ओर उन्मुख होना पड़ेगा। अवश्य ही इसमें समस्याओं के अभियोजन के प्रति लेखक का सरोकार बहुत अहमियत रखता है, पर उसके प्रति एक विचित्र संभ्रम भी इस उपन्यास में है जो उसे कमज़ोर बनाता है, पर ये सीमाएँ समस्यात्मक उपन्यास की अनिवार्य सीमाएँ हैं। कलात्मक रूप में अपने कथा-प्रवाह और नाटकीयता में इस उपन्यास को *मैला आँचल* की तरह तो नहीं कहा जा सकता, पर उसमें ये सभी लाक्षणिक विशेषताएँ वर्तमान हैं। अवश्य उपन्यास एक अवसादक—और त्रासद भी—प्रभाव पाठक पर छोड़ता है। एक अदृश्य दबाव उस पूरे उपन्यास की समस्या पर है और उसके प्रति रेणु पूरी तरह सजग मालूम पड़ते हैं। फिर भी यह उपन्यास कई दृष्टियों से वैसा नहीं बन पड़ा जैसा प्रारंभ में लगता था। *जुलूस* की तरह ही एक जीवित समस्या प्रारंभ करके लेखक ने उसे एक अत्यंत नैराश्यपूर्ण परिस्थितियों में ला छोड़ा है।

पलटू बाबू रोड में मध्यवर्ग के जीवन का बड़ा ही प्रामाणिक परिवेश है। कथा रिपोर्ताज़ की वृत्तशैली में अनेक साहचर्यों से टुकड़े-टुकड़े जोड़ी जाती है, पर जीवन-प्रक्रिया में सहज जुड़ते चले जाते हैं और कथा धीरे-धीरे एक आकार लेती चलती है। *पलटू बाबू रोड* में सामान्य जीवन की जड़ता को सूचनाएँ और ख़बरें तोड़ती हैं—जीभ रस का सारा आस्वाद इसी ख़बर की दुनिया का है। *पलटू बाबू रोड* भारत के नगरों का क़स्बा है। यह क़स्बा हर नगर के हाशिए पर है। यहाँ तक कि महानगरों में भी ऐसे क़स्बे हैं, जिनमें जीवन का प्रवाह अपने ढंग से

प्रवाहित होता है। अवश्य ही नगरों से ये क़स्बे अपने वातावरण में अलग हैं। यहाँ हर आदमी हर दूसरे को जानता है। यह परिचय केवल जानने तक या पहचान तक सीमित नहीं हैं। अंतरंग सूचनाएँ इसकी नाटकीय पहचान को और सघन, साथ ही जटिल बनाती हैं।

क़स्बे का यह हिस्सा जैसे अबतक एक नींद की जड़ता से मुक्त नहीं हो सका है। शहर महानगर की ओर बढ़ता चल सकता है, पर उसकी आत्मा कहीं इस बढ़ाव के साथ नहीं है। समय इस देश को बलात् खींचकर आगे ले जाना चाहता है और 'देश' जैसे ठहर गया है। देश में यह जड़ता भारतीय ग्राम-समाज की लाक्षणिक विशेषता है। शहरों से भी यह ग्राम-समाज की लाक्षणिकता अभी समाप्त नहीं हुई। वस्तुतः पश्चिमी ढंग के शहर औद्योगीकरण के इस दौर में अभी बन ही रहे हैं और उनके संक्रामक लक्षणों में एक ग्राम-समाज है, जो शहर की पूरी जीवन-प्रक्रिया के एक हिस्से को सामाजिक अस्तित्व और रंग देता है।

इस ग्रामीण समाज के अवशेष का सारा प्रभाव परिवार पर दिखाई पड़ेगा। यह परिवार अपने भौतिक परिवार से टूटकर भी अपने संस्कारों-व्यवहारों और विचारधारा-भावधारा में मूल परिवेश से ही जुड़ता है। लोग-बाग़ तमाम छोटी-छोटी घटनाओं के तनाव में रस लेते हैं और तनाव में समाप्त होने पर दूसरी घटनाओं की सूचनाएँ एकत्र करने में व्यस्त हो जाते हैं। यह उनकी जीवनचर्या है। अक्सर इस जीवनचर्या के केन्द्र में कोई स्त्री होती है—सामान्यतः विधवाएँ या कुमारियाँ। भारतीय कुमारी की नियति ग्राम-समाज से बाहर भी वही है, जो उसके भीतर है। शहर का वातावरण भी उसे इस नियति से मुक्त नहीं करता। क़स्बे पर गाँव पसर जाता है। वस्तुतः *पलटू बाबू रोड* पूर्णियाँ का एक गाँव है—शहर के हाशिए पर टिका हुआ गाँव जो बाहर से बदल दिया गया है, पर भीतर से वही है, जो वह था।

इस अपरिवर्तनीय ग्राम-समाज की प्रेत-छाया में *पलटू बाबू रोड* पल रहा है, अपवादों में—अफ़वाहों में, उत्तेजक सूचनाओं में। निरीह से दिखनेवाले चरित्रों में सूचनाओं के लिए कैसी ऊर्जा है! इस जड़ता में क़ैद ऊर्जा को मुक्त करना ही होगा; भारतीय नारी की नियति से जुड़ा हुआ कथानक कहीं-न-कहीं वास्तविक जीवन के विकास के लिए इस ऊर्जा को मुक्त करने का एक संकेत है। किसी निश्चित घटनाक्रम के बिना चलनेवाला यह जीवन अपने ही महाजाल में बँध गया है। उसे इससे मुक्त करके फिर से जीवन के साधारण प्रवाह में डालना होगा। रेणु की पहचान का यह पहलू बड़ा उत्तेजक हो सकता था। भरसक रेणु ने इसकी चेष्टा भी की है, पर मानवीय भावनाओं और संबंधों की इस जड़ता-भरी डूबी दुनिया में जो दुःस्वप्न-भरा चालन है, उससे भारतीय नारी को मुक्त करने का प्रश्न असाधारण आयाम का प्रश्न है।

इसकी असाधारणता का कारण इस तरह समझ में आता है कि क़स्बे में प्रत्यारोपित होकर यह ग्राम-समाज वस्तुतः समाज न होकर परिवार-समुदाय के रूप

में एक अवाचक संबंधों से जुड़ा होता है। *पलटू बाबू रोड* में भी वस्तुतः ग्राम-समाज का जो आभास होता है, वह अपनी गतिशीलता के कारण नहीं, बल्कि बिखराव और मुक्ति के कारण ही है। अपने पिछड़ेपन के कारण उसे हम गाँव-गँवई मान तो सकते हैं, पर गाँवों की नैसर्गिकता और सहजता का, संबंधों की अंतरंगता का, कोई आभास इस समाज में नहीं है। *पलटू बाबू रोड* में वस्तुतः कोई एक व्यवस्थित कथा नहीं है। स्थान के केन्द्र से कथाओं की अनेक धाराएँ एक-दूसरे को काटती हुई एक समुच्चय उपस्थित करती हैं। ये कथा-धाराएँ कथाचक्रों की तरह पूरी नहीं हैं। इसलिए इसके शिल्प में कथाचक्रों की संश्लिष्टता के बजाय एक रैखिक प्रवाह है। रिपोर्ताज़ में वृत्त-निर्माण की फ़िल्म शैली के लिए इसका उपयोग किया जा सकता है। वस्तुतः *पलटू बाबू रोड* कथा नहीं, दृश्यवृत्त है। रेणु की अनेक कहानियाँ भी दृश्यवृत्त हैं। इनकी संरचना स्फटिक की तरह है—इसमें से अनेक पहल निकाले जा सकते हैं।

कुमारी कन्याओं की समस्या हमारे समाज की जैसे अनादि समस्या है, पर इसका विस्तार और आकार सब जगह एक नहीं है। हाँ, इसकी प्रकृति अपने आकार-प्रकार से स्वतंत्र है। इन कुमारियों पर असँख्य कथाएँ, वृत्त, नाटक, रूपक और रिपोर्ताज़ लिखे गए हैं। रेणु का उद्देश्य उसे फिर से लिखना मात्र न था। वे इस समस्या को अपने काल में पहचानकर उसके अंतर्विरोधों को उजागर कर रहे थे। इसलिए *पलटू बाबू रोड* में समस्या के अनेक समकालीन आसंग हैं—सामाजिक-वैयक्तिक आसंग। पर काश! इनसे सचमुच कोई ज़मीन टूट पाती। लगता है, इस बंजर ज़मीन को तोड़ना परती को तोड़ने से भी ज़्यादा मुश्किल है।

कितने चौराहे मेरी दृष्टि में रेणु के लेखन में एक अजीब व्यतिक्रम प्रस्तुत करता है। एक बहुत पहले लिखी हुई कहानी को बाद में प्रकाशित करने की कौन विवशता हो सकती है—इसे हम आज नहीं कह सकते। स्वतंत्रता-संग्राम को यह कथा वस्तुतः कुछ नहीं जोड़ती। चौथे दशक के व्यापक जन-आंदोलन से प्रारंभ होकर सन् बयालीस के घटनाक्रमों तक विस्तारित यह छोटा-सा उपन्यास जैसे हल्का-सा, आत्मकथात्मक आभास देता है। इससे ज़्यादा रोचक कथा तो नेपाली क्रांति के संदर्भ में रेणु के कार्यकलापों की हो सकती थी। शायद उनके मन में ऐसा कुछ था भी।

कितने चौराहे में क्रांति का आदर्शवाद भावावेश तो है, पर क्रांति की व्यापक ज़मीन नहीं है। वस्तुतः राष्ट्रीय क्रांति के लिए इस पूरी लहर में अनेक ऊँची-नीची तरंगें प्रकट होती हैं। परिवेश को ही अगर इन तरंगों के रूप में भरा-पूरा कथानक दिया जाता, तो उपन्यास स्कूली पाठ्यक्रम से ज़्यादा महत्त्व का हो सकता था। इस लहर ने असंख्य जन में तीव्र प्रेरणाएँ उत्पन्न की थीं। त्याग और बलिदान के लिए प्रेरक परिस्थिति इससे ज़्यादा बेहतर हो ही नहीं सकती।

लेकिन क्रांति के आवेश और क्रांतिकारी कार्यकलाप के पीछे जो एक सहभागिता होती है, उसकी पृष्ठभूमि बड़ी सँकरी है। आश्चर्य है कि रेणु ने उपन्यास में क्रांतिकारी कार्यकलाप से जुड़ी किसी जटिल समस्या को भी उभारने की कोशिश नहीं की। जैसाकि मैंने ऊपर ही लिखा है, यह उपन्यास आत्मकथात्मक संकेतों के बावजूद न पूरी तरह आत्मकथा से बँधा है और न इससे एकदम स्वतंत्र ही है।

निर्वैयक्तिक और वैयक्तिक की इस रासायनिक प्रक्रिया में उपन्यास का रंग कुछ अजीब घालमेल-सा पैदा करता है। इस छोटे-से आकार में इस प्रकार की कथाएँ क्या नयापन ला सकती हैं, यह स्पष्ट नहीं है। स्वयं लेखक इस प्रकार के प्रयोग के प्रति कैसा रुख़ रखता है, यह हमें ठीक मालूम नहीं।

इस प्रकार, अपने लघु उपन्यासों में आकर रेणु समस्याओं से तो जूझते हैं, पर उसे वे अपनी भव्य कला-शक्ति का अंग नहीं बना पाते। वस्तुतः शहरी परिवेश और भाव-संसार की कहानियों में भी रेणु उस स्पर्श को नहीं पा सके। लघु उपन्यासों के प्रयोग अपनी विविधता के बावजूद हमें प्रभावित नहीं करते। ऐसा लगता है, जैसे रेणु की कला अँधेरे में एक चीख़ की तरह उभरकर केवल प्रतिध्वनियों में जीवित रहती है। यह एक बड़े कथा-लेखक के लिए दुर्घटना ही कही जा सकती है। यह दुर्घटना रेणु के जीवन में भी घटी और रचनात्मक क्षमता के साथ भी घटित हुई। एक हलचलभरी ज़िन्दगी का ऐसा अवसादक अंत दुर्घटना से अलग क्या है!!!

❐

परिशिष्ट

रेणु साहित्य

कहानी-संग्रह

ठुमरी	:	राजकमल, 1959
आदिम रात्रि की महक	:	राधाकृष्ण, 1967
अगिनखोर	:	संभावना, हापुड़
एक श्रावणी दोपहरी की धूप	:	राजकमल, दिल्ली 1984
अच्छे आदमी	:	राजकमल, दिल्ली 1986
मेरी प्रिय कहानियाँ	:	राजपाल, नई दिल्ली 1983
भित्ति चित्र की मयूरी	:	

उपन्यास

मैला आँचल	:	प्रथम प्रकाशन, पटना, 1953 द्वितीय संस्करण, राजकमल, 1954
परती : परिकथा	:	प्रथम प्रकाशन, 1957 द्वितीय संस्करण, राजकमल, 1959
जुलूस	:	भारतीय ज्ञानपीठ, 1960
दीर्घतपा	:	बिहार ग्रंथ कुटीर, पटना, 1959
पलटू बाबू रोड	:	बिहार ग्रंथ कुटीर, पटना
कितने चौराहे	:	राधाकृष्ण, 1966

रिपोर्ताज

ऋणजल : धनजल	:	राजकमल, 1978
नेपाली क्रांतिकथा	:	राजकमल, 1978
वन तुलसी की गंध	:	राजकमल, 1985

अन्यान्य

श्रुत-अश्रुत पूर्व (निबंध) : राजकमल, 1984

रेणु से भेंट (साक्षात्कार) : (सं.) भारत यायावर, वाणी, 1987

सहायक ग्रंथ

रेणु स्मृति ग्रंथ (भाग 1) : पटना

सारिका : रेणु विशेषांक

सोने की कलमवाला हीरामन फणीश्वरनाथ रेणु : राबिन शॉ पुष्प

फणीश्वरनाथ रेणु : कुसुम सोफट

फणीश्वरनाथ रेणु का साहित्य : अंजलि तिवारी

रेणु का आंचलिक कथा साहित्य : पूर्णदेव